विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

हिन्दी
त्रैमासिक

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७१ ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● ब्रह्मचारी देवेन्द्र

सह-सम्पादक ● ब्रह्मचारी सन्तोष

वार्षिक ४) वर्ष ९ अंक ३ एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र-परिचय––स्वामी विवेकानन्द
(कलकत्ते में गोपाललाल सील के बगीचे में, फरवरी १८९७)

मुद्रक : विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपूर-२

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ९] जुलाई – अगस्त – सितम्बर [अंक ३

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७१ ★ एक प्रति का १)

संसारी की दुर्गति

शब्दादिभि : पंचभिरेव पंच
पंचत्वमापु : स्वगुणेन बद्धा : ।
कुरंगमातंगपतंगमीन––
भृंगा नर : पंचभिरंचित : किम् ।।

––हरिण, हाथी, पतिंगा, मछली और भ्रमर ––ये पाँच क्रमश: पंचेन्द्रियों में से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की एक-एक इन्द्रिय में आसक्त होकर पचत्व को प्राप्त हो जाते हैं, तब भला उस संसारी की दुर्गति का क्या ठिकाना जो इन पाँचों इन्द्रियों में एक साथ बँधा हुआ है !

––विवेकचूड़ामणि, ७६ ।

संसार में भला कौन किसका ?

एक गुरु ने अपने शिष्य को उपदेश देते हुए कहा, "यह संसार क्षणभंगुर और मिथ्या है। तुम मेरे साथ चले चलो।" इस पर शिष्य ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "किन्तु महाराज! मुझे तो घर पर सब लोग कितना प्यार करते हैं। मेरे पिता हैं, माता हैं, पत्नी है। ये सब मेरे बिना नहीं रह सकते। किसी दिन बाहर से घर लौटने में मुझे देर हो जाय तो पिता को चिन्ता लग जाती है, माता मनौतियाँ मानने लगती हैं और पत्नी तो बिना खाये-पिये मेरा रास्ता ताकती रहती है। इन सबको मैं प्राणों से भी बढ़कर प्यारा हूँ, तब भला इन्हें छोड़कर मैं कैसे आपके साथ चला जाऊँ ?"

इस पर गुरु बोले, "वास्तव में तुम 'अहंता' और 'ममता' से बँधे हो। इस 'मैं' और 'मेरे' के कारण ही तुम कह रहे हो कि वे लोग तुम्हें इतना प्यार करते हैं। पर यह सब तुम्हारे मन का भ्रम है। मैं तुम्हें एक युक्ति सिखाऊँगा जिसके बल पर तुम जान लोगे कि वे लोग तुम्हें सचमुच में प्यार करते हैं या नहीं।" ऐसा कहकर गुरुजी ने शिष्य को एक गोली दी और उससे कहा, "घर जाकर इसे निगल जाना। इसके फल से तुम ऊपर से मुर्दा की तरह बन जाओगे पर भीतर तुम्हारी चेतना बनी रहेगी। तुम सब कुछ देख और सुन सकोगे। बाद में मैं तुम्हारे घर पर आऊँगा और धीरे-

धीरे तुम अपनी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त कर लोगे ।"

शिष्य ने गुरु का कहना मानकर, घर लौटकर वैसा ही किया । वह बिस्तरे पर मुर्दे के समान पड़ गया । उसकी ऐसी अवस्था देख घर के लोग घबरा गये और रोने-पीटने लगे । उसकी माता और पत्नी बार बार शव को छाती से लगा लेतीं और सिर नोच-नोचकर रोतीं । अन्य लोग जमीन पर बैठे हुए छाती पीट-पीटकर रोने लगे । घर में कुहराम मच गया । इतने में एक ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचे और लोगों को रोते देखकर रोने का कारण पूछा । उत्तर मिला, "घर का यह लड़का अचानक मर गया । सुबह तक बिल्कुल ठीक था । पता नहीं यह कैसे हो गया ?" ब्राह्मणदेवता ने लड़के का हाथ अपने हाथों में लिया और उसकी नाड़ी देखने लगे । फिर बोले, "नहीं, यह तो नहीं मरा है । मेरे पास एक दवा है जिससे यह पूरी तरह चंगा हो जायगा ।" आत्मीय-स्वजनों के आनन्द का ठिकाना न रहा; उन्हें ऐसा लगा मानो साक्षात् भगवान् ही ब्राह्मणदेवता के रूप में वहाँ आ गये हों और मानो स्वर्ग ही वहाँ उतर आया हो । इतने में ब्राह्मण ने पुनः कहा, "पर देखो, मैं एक दूसरी बात भी बता दूँ । जो दवा मैं इस लड़के को देनेवाला हूँ, पहले उसका थोड़ासा भाग किसी दूसरे व्यक्ति को लेना होगा, तब बचा हुआ भाग लड़के को खिलाऊँगा । परन्तु एक बात है, जो भी इस दवा को खायेगा वह मर जायेगा । यहाँ तो मैं लड़के के बहुत से

प्रिय स्वजनों को देख रहा हूँ; इनमें से कोई एक इस दवा को खाने के लिए अवश्य तैयार हो जायेगा। मैं लड़के की पत्नी और माता को छाती पीट-पीटकर रोते देख रहा हूँ। कम से कम वे तो यह दवा खाने से नहीं हिचकेंगी।"

इतना सुनना था कि सारे लोग सन्न रह गये। लड़के की माता ने थोड़ी देर बाद कहा, "देखिये ब्राह्मणदेवता! हमारा यह परिवार बहुत बड़ा है। अगर मैं मर जाती हूँ तो परिवार की देखभाल कौन करेगा?" और ऐसा कहकर वह गम्भीर हो गयी। पत्नी जो क्षण भर पहले सिर नोच–नोचकर, दहाड़े मार–मारकर रो रही थी, अपनी सास के चुप हो जाने पर बोली, "किसी के मरने-जीने में भला किसी का क्या हाथ! जीव तो अपने कर्मों से जीता-मरता है। उनका काल आ गया था सो वे चल बसे। दो-तीन ये छोटे छोटे बच्चे छोड़ गये। अगर मैं मर जाऊँ तो इन बच्चों को कौन देखेगा? वे तो बच्चों को सँभालते नहीं थे।"

उधर शिष्य मुर्दे के समान पड़ा हुआ सब कुछ देख और सुन रहा था। जब उसने अपने अत्यन्त प्रिय जनों की यह सब बातें सुनीं तो वह तुरत उठ खड़ा हुआ और ब्राह्मण के रूप में पधारे अपने गुरु से कहा, "गुरुदेव! आपने ठीक ही कहा था। चलिये, अब निकल चलें। मैं आपका अनुगमन करूँगा।"

■

साधना और सिद्धि

स्वामी यतीश्वरानन्द

(ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के उपाध्यक्ष थे। सन् १९३५ से १९५० तक उन्होंने जर्मनी, फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में वेदान्त का प्रचार किया। उनके लेखों में अध्यात्म विद्या को व्यावहारिक जीवन में उतारने की कला होती है। प्रस्तुत लेख 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' के जनवरी-फरवरी १९६० वाले अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत हुआ है। -सं०)

आध्यात्मिक जीवन में अध्यवसाय की आवश्यकता

यथार्थ धर्म तो केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिये है। हमें यह अपना महान् सौभाग्य समझना चाहिये कि किसी प्रकार हमारा मन उच्चतर एवं शाश्वत तत्त्वों की ओर आकर्षित हुआ है। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम क्रमशः दृढ़तापूर्वक उच्चतर पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। अपने लक्ष्य की प्राप्ति तक न तो हम निरुत्साहित हों और न रुकें ही। आध्यात्मिक पिपासा को बड़ी सावधानी से सहेजकर रखना चाहिए। प्रायः हम शिथिलता का शिकार बन जाते हैं। बहुतों की आध्यात्मिक साधना का यहीं अन्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि उनका मन इतना चंचल और बहिर्मुखी होता है कि उनके लिये आध्यात्मिक पिपासा एवं व्याकुलता को बनाये रखना तथा दैनिक पठन-पाठन और स्वाध्याय आदि के अभ्यास को

सुस्थिर रखना कठिन हो जाता है। अतः हमें सदा सचेत रहना चाहिए।

"केवल ब्रह्म ही निर्दोष, पाप रहित, निर्विकार और अनिर्देश्य है; वह शुद्ध और दिव्य है। वह एकमेवाद्वितीय है। जो उसे जान लेता है वह वही बन जाता है।"

किन्तु प्रश्न यह है कि उसे कैसे जाना जाए? वह एक दिन में या कुछ बेतुकी और ऊटपटांग साधना करने से नहीं जाना जा सकता। हमें आवेग और इच्छाओं के हाथों अभागे ग़ुलामों की मौत नहीं मरना है। हमारे जीवन का एकमात्र कार्य है अन्तर्निहित दिव्यता की अभिव्यक्ति करना, सत्य की प्रत्यक्षानुभूति करना।

सच्चे एवं दृढ़निश्चयी भक्त के सामने भगवान् अपना प्रभुत्व प्रकट कर देते हैं। भक्त का कार्य तो केवल भगवान् में मन को लगाना है। सत्य को प्राकृतिक, मानुषी नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। सत्य को हम शुद्ध एवं पवित्र मन से ही देख सकते हैं। परम सत्य की अनुभूति तो उन्हीं को हो सकती है जिन्हें सूक्ष्मदृष्टि प्राप्त हो, जिनका मन शान्त और एकाग्र हो तथा जिनका चित्त शुद्ध हो। आध्यात्मिक मनुष्य अपनी आत्मा की गहराई में सत्य की साक्षात् अनुभूति से अपने जीवन की समस्याओं का मौलिक हल पा लेता है। हमारे भीतर एक सत्ता है जो हमारे मन के बाह्य एवं भीतरी कार्य-कलापों की शाश्वत साक्षी है और जब तक हम इस शाश्वत सत्ता का साक्षात्कार अपने भीतर नहीं कर लेते तब तक अपने

से बाहर उसकी एक झलक पाना भी सम्भव नहीं है।

इसलिये हमारे समक्ष महान् कार्य यह है कि उस ज्ञाता को कैसे जाना जाय? उसे कैसे जाना जाय जिससे सबको जाना जाता है? केनोपनिषद् का यह महान् प्रश्न है। समस्त जलधाराओं के स्थायी स्रोत तक पहुँचने के लिये हमें अपनी ही भूमि खोदनी पड़ेगी, अपने ही भीतर हमें एक गहरी नहर काटनी होगी।

जप

जप का अभ्यास करने से पूर्व विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। यदि आरम्भ में जप यान्त्रिक हो तो कोई हर्ज नहीं। साधक प्रारम्भ में अपने चेतना-केन्द्र को निरन्तर बदलते हुए पाता है। प्रत्येक साधक की यही सबसे बड़ी कठिनाई है। पर तो भी उसे अनन्त धैर्य पूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिये, भले ही उसे शुरू शुरू में परिणाम सन्तोष-जनक न मालूम हो। साधना में सफलता प्राप्त करने का यही एकमात्र उपाय है।

निद्रा, आलस्य और ध्यान में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इनमें कोई सम्बन्ध मानना एक भयानक भूल है। यदि आलस्य साधक को वशीभूत करले तो उसे आसन छोड़कर खड़े हो जाना चाहिये, टहलना चाहिये और साथ ही साथ जप भी जारी रखना चाहिये। इसी प्रकार जब मन अत्यन्त चंचल और बहिर्मुखी हो जाय, तो जप भले ही यान्त्रिक क्यों न हो, साधक को चंचलता में बहने की बजाय जप में डटे रहना चाहिए। इस प्रकार

अन्ततः मन का एक भाग तो जप करता ही रहेगा।

कल्पना करो कि भगवान् के नाम की या अपने इष्ट-मंत्र की प्रत्येक आवृत्ति के साथ तुम्हारा शरीर, मन और इन्द्रियाँ पवित्र हो रही हैं। इस विश्वास को अति दृढ़ कर लेना चाहिये क्योंकि जप के मूल में यही भाव निहित है। इष्टमंत्र स्नायुओं की उत्तेजना को प्रशमित कर देता है, मन को शान्त बनाता है तथा शरीर में हितकर परिवर्तन लाता है। जब मन अति उद्विग्न और खिन्न हो तब भगवान् का नाम लो और उनका चिन्तन करो। ऐसा करते हुए कल्पना करो कि इससे तुम्हें सन्तुलित अवस्था प्राप्त हो रही है तथा शरीर और मन में एक नवीन प्रवाह बहने लगा है। इस अभ्यास से शीघ्र ही तुम अनुभव करोगे कि तुम्हारा सम्पूर्ण नाड़ीमण्डल शान्त हो गया है और मन की बाह्य प्रवृत्तियाँ भी कम हो गयी हैं। ऐसा सोचो कि इष्टमंत्र या भगवान् के नाम के प्रत्येक जाप के साथ तुम अधिकाधिक पवित्र होते जा रहे हो। इस अभ्यास का फल भले ही तुरन्त नहीं दीखता, पर कुछ समय निरन्तर दृढ़तापूर्वक अभ्यास करते रहने से तुम अपने में एक अपूर्व परिवर्तन देख पाओगे। यह प्रयोग के लिए एक अच्छा क्षेत्र है। अभ्यास के द्वारा शरीर, मन और प्राण को एक लय में लाना चाहिए। केवल तभी हम साधना एवं ध्यान के लिये यथार्थ मनोभाव ला सकेंगे।

इस पथ पर सब कुछ कठिन है। लक्ष्य की कल्पना करना

कठिन है। मन को वश में करना कठिन है। ध्यान करना कठिन है। जप भी यदि ठीक तरीके से किया जाय तो वह भी कठिन है, पर इन सब की अपेक्षा कुछ कम है। अतएव नयी शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। इसके लिए पूर्वोक्त सुझाव लाभकारी हैं। शब्द और शब्द-प्रतीकों (मंत्रों) की महान् शक्ति का सदुपयोग करो। यह अनुभव करने का प्रयास करो कि भगवन्नाम या इष्ट-मंत्र तुम्हें शुद्ध और उन्नत कर रहा है। समय में तुम जान लोगे कि इष्ट-मंत्र के लयपूर्णजप में उन्नत करने की महान् शक्ति है और साधक के प्रारम्भिक जीवन में यह अत्यावश्यक साधनाओं में से एक है।

ध्यान के लिए सुझाव

ध्यान में बैठने के तुरन्त बाद ही हाथ जोड़कर भक्त कहे—

"ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥"

—'पवित्र हो या अपवित्र, सभी अवस्थाओं में, जो कोई भी ईश्वर का स्मरण करता है वह बाहर और भीतर से पवित्र हो जाता है।' ऐसा कहते हुए वह देह और मन में पवित्रता का अनुभव करे। फिर वह धारणा करे कि जीवात्मा मूलाधार से उठकर सहस्रार की ओर चल रहा है और वहाँ पहुँचकर परमात्मा से अभिन्न हो गया है। फिर वह कल्पना करे कि उसका स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों तथा उसकी सभी शारीरिक और

मानसिक बातें वहाँ पर ब्रह्म में लीन होती जा रही हैं। फिर वह अनाहत चक्र (हृदय के पास) में उतरकर कल्पना करे मानो एक महान् प्रकाशपुंज से प्रकाशमय दिव्यरूप निकला है जो उसकी पूजा और ध्यान का विषय है। साथ ही वह सर्व पापों से मुक्त अपने सूक्ष्म रूप का भी चिन्तन करे। अब साधक ईश्वर का पूजन और ध्यान करे; साथ ही कुछ समय जप करे। फिर वह ईश्वर के निराकार-स्वरूप का चिन्तन करे जो प्रकाशपुंज से उद्‌भूत उस दिव्य रूप और उसके अपने सूक्ष्म रूप में ओत-प्रोत रूप से भिदा हुआ है। अन्त में वह अपने बाहर और भीतर प्रभु की दिव्य उपस्थिति का अनुभव करे। वह प्रार्थना करे--

'प्राण, बुद्धि और शरीर के आवेगवश जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में मन, वचन और कर्म से विभिन्न इन्द्रियों द्वारा मुझसे जो कुछ भी पाप हुए हों वे सभी ब्रह्म को समर्पित करता हूँ। मैं अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में सौंपता हूँ।'

यथार्थ प्रार्थना में अत्यन्त प्रगाढ़ता, एकाग्रता और अनन्यता होनी चाहिये। इन सबसे रहित प्रार्थना निष्फल ही होगी।

सदैव मंत्रों का सहारा लो क्योंकि शब्द और उसके अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं। विभिन्न शब्दों में विचार अपने को प्रकट करते हैं। अब हम देखते हैं कि दिव्य विचार विभिन्न मंत्रों में अभिव्यक्त होते हैं, और मन्त्र तथा उस

दिव्य विचार में एक अटूट सम्बन्ध होता है। इसीलिये हम अपनी साधना में शब्द का उपयोग करते हैं। शब्द की सहायता से दिव्य विचार की स्फुरणा अधिक सुगम हो जाती है। हमें मंत्रों के सहारे वैचारिक भूमि पर पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए, अन्यथा मंत्र से अधिक उपकार न होगा। बाह्यपूजा पहली सीढ़ी है। इसके बाद साधक को जप और ध्यान का अभ्यास करना चाहिए तथा अन्त में बन्द या खुले नेत्रों से ब्रह्म की सर्वत्र अनुभूति करनी चाहिए। यही सर्वोच्च अवस्था है, पर इसे पाने के लिये साधक को पूर्वावस्थाओं को क्रमशः पार करना ही होगा।

यदि तुम्हारे मन में एक तूफ़ान उठ खड़ा हो और तुम्हारे पाँव लड़खड़ा जाएँ तो भी जप करते रहो। यदि आवश्यक हो तो मंत्र का जोर से उच्चारण करने लगो—कम से कम इतनी जोर से कि तुम्हें सुनायी पड़े। बहुधा मन की बहुत ही अशान्त अवस्था में मानसिक जप पर्याप्त नहीं होता। मंत्र और उससे अभिव्यक्त दिव्य विचार में सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करो ताकि मंत्र का उच्चारण करते ही वह विचार सामने आ जाय। जब तुम टाइप राइटर पर कुछ लिखते हो तब ऐसा ही होता है। जैसे ही तुम उसकी चाबी को छूते हो वैसे ही तत्सम्बन्धी अक्षर कागज पर छप जाता है। अतएव जैसे ही तुम अपने मंत्र का उच्चारण करो, तत्सम्बन्धी विचार तुम्हारी सहायतार्थ तुममें तुरन्त उठना चाहिए। किन्तु

इसके लिये यह आवश्यक है कि नित्य विधिवत् अभ्यास द्वारा इन दोनों में एक दृढ़ सम्पर्क स्थापित कर लेना चाहिए।

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "जप एक शृंखला की भाँति है। एक कड़ी से दूसरी कड़ी पर होते हुए हम अन्त में ईश्वर तक पहुँच जाते हैं। साधना के सभी प्रकारों में जप पर जोर दिया गया है। यही प्रयत्न करो कि तुम्हारे जप का दर्जा क्रमशः बढ़ता रहे। तुम्हें बड़ी सतर्कता और बुद्धिमत्ता पूर्वक जप करना चाहिए और धीरे धीरे उसकी संख्या अधिकाधिक बढ़ानी चाहिए। शृंखला का सदा ध्यान रखो और अगली कड़ी को पकड़ने की चेष्टा करो। इस प्रकार तुम ईश्वर के अधिक समीप पहुँच सकोगे और अपने को ध्यान करने के योग्य बना लोगे।

माया और ब्रह्म

मन तो जड़वस्तु मात्र है, इसलिए हमें दृढ़ता, निष्ठुरता एवं कठोरता से उसका नियंत्रण करना चाहिए। उससे अथवा उसके विकारों से हमें अपना तादात्म्य नहीं जोड़ना चाहिए। आत्मा मन के प्रत्येक कार्यकलाप का साक्षी है; वह इससे भिन्न और इसका स्वामी है। अपने मन को पूर्णतः वश में करने के लिये समय लगता है और ब्रह्म से अभिन्नत्व-बोध होने में तो और भी अधिक समय लगता है, अतः साधक को अनन्त धैर्य रखना चाहिये।

देश, काल और निमित्त के रंगीन कांच में से मन के द्वारा दीखने वाला ब्रह्म ही संसार के रूप से प्रतिभासित

हो रहा है। कान्ट का एवंविध कथन उचित ही है, किन्तु वे यह नहीं जानते कि इसके परे कैसे जाया जाय। पर उपनिषद् के ऋषिगण यह जानते और कहते हैं कि 'यह भी माया है।' यदि हम माया के परे जायँ तो हमारी अनुभूति इससे भिन्न होगी। देश, काल और निमित्त माया के ही प्रतिरूप हैं। यदि हम पारमार्थिक सत्य को 'क' से सम्बोधित करें, तो व्यावहारिक सत्य होगा–माया + क। कान्ट यह नहीं कहते कि 'क' या सत्य जैसा है वैसा ही देखा या जाना जा सकता है। परन्तु औपनिषदिक आचार्यों के विचार में सत्य के सभी साधकों को यह अनिवार्य रूप से करणीय है।

माया के दो पक्ष हैं–एक है उसकी आवरणशक्ति, जो मनुष्य की बुद्धि को आच्छादित कर देती है, और दूसरी है उसकी विक्षेप-शक्ति। दोनों ही आच्छादन हैं। माया अपने अविद्यारूप में बुद्धि को आच्छादित कर नश्वर वस्तुओं के प्रति आसक्ति और राग उत्पन्न करती है, और अपने विद्या-रूप में अनासक्ति, प्रार्थना और ध्यान की वृत्ति को पुष्ट कर हमें ज्ञानलाभ करने और मुक्ति पाने में सहायता करती है। अविद्या-माया हमें अधिकाधिक बद्ध करती है, जब कि विद्या-माया हमारे बन्धन काटकर अपने को पार करने का तथा आत्मानुभूति का मार्ग प्रदर्शित करती है।

जो हमें बाँधती है और जो मुक्त करती है, वे दोनों के दोनों व्यावहारिक जगत् में हैं और माया के ही राज्य

में हैं। पारमार्थिक दृष्टि से दोनों ही असत्य हैं। जहाँ कहीं भी द्वन्द्व हो वहीं माया है। एक दृष्टिकोण से शुभ से अशुभ का अस्तित्व कहीं अधिक है, परन्तु शुभाशुभ दोनों सदैव एकसाथ विद्यमान हैं। यदि तुम शुभ चाहते हो तो तुम्हें अशुभ भी लेना होगा। अन्यथा दोनों को पार कर जाना होगा और एक को भी नहीं लेना होगा। जैसे साधु का अस्तित्व है, वैसे ही असाधु और पापी का भी। यदि हैं तो दोनों एक साथ हैं; यदि नहीं हैं तो दोनों ही नहीं हैं।

बाधाओं की सृष्टि क्यों की जाय? समृद्धि और विपत्ति, सुख और दुःख एक साथ ही होते हैं। ये अन्योन्याश्रयी हर परिस्थिति में रहते हैं। अतः यथार्थ आध्यात्मिक व्यक्ति का आदर्श इन द्वन्द्वों से परे जाना, अनासक्त हो जाना है। और जब तक कोई द्वन्द्वातीत होने में असमर्थ हो तब तक उसे अशुभ के प्रति उदासीन और अनासक्त रहना चाहिये, शुभ की वृद्धि तथा बुराइयों का परिहार करना चाहिये। द्वन्द्वातीत अवस्था के पथ पर सबसे पहले शुभ के द्वारा अशुभ पर नियन्त्रण करे और फिर व्यावहारिक शुभ का भी परित्याग करे। परन्तु पहले हमें शुभ के प्रति पूर्ण आसक्ति होनी चाहिये, तभी हम इससे अतीत हो सकते हैं। हम शुभ की वृद्धि द्वारा ही अशुभ से मुक्त हो सकते हैं। हमें बड़ी सतर्कता से शुभ संस्कारों की वृद्धि करनी चाहिए और फिर इन शुभ संस्कारों से भी अतीत हो कर समस्त व्यावहारिकता से परे ब्रह्मभाव को प्राप्त होना

चाहिये । श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, 'हमें एक कुशल नर्तक की भाँति होना चाहिए जो नृत्य के प्रत्येक नियम का पालन करने के लिये भले ही विशेष प्रयत्न नहीं करता तथापि उसका कदम गलत नहीं पड़ता । शुभाशुभ द्वन्द्वों से मुक्त होकर तथा अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर हमें स्वाभाविक एवं सहज रूप से शुभ का आचरण करना चाहिए ।

विधेयात्मक पथ

अतीत चाहे जैसा रहा हो, उस पर चिन्ता करना सम्पूर्णतया समाप्त कर दो । जो हो गया सो हो गया, उसे अब कोई नहीं मिटा सकता । अतः पवित्रता का चिन्तन करो, अपने भावी कर्मों का चिन्तन करो न कि उन कर्मों का जो तुमने अतीत में किये हों । जो यह सोचता है कि वह पवित्र है, वह पवित्र ही हो जाता है । अधिक पवित्र और श्रेष्ठ संस्कार और संसर्ग लाकर सभी पुराने संसर्गों और संस्कारों को मिटाने का प्रयास करो । अशुचिता का चिन्तन करने से तुम शुद्ध नहीं हो सकते, अपने को निरन्तर पापी सोचते हुए तुम कभी भी पाप-मुक्त नहीं हो सकते । यह एक गलत मनोविज्ञान है और सदा विपरीत फल देनेवाला है । पाप और अपवित्रता के अधिक चिन्तन से तुम यह भी भूल जाओगे कि अपनी आध्यात्मिक साधना के बल पर तुम कुछ प्राप्त कर सकते हो । सदा विधेयात्मक पथ का अनुसरण करो । यह सोचने की बजाय कि "ओह, मैं कितना पापी हूँ !

ओह, मैं कितना अपवित्र हूँ !" सोचो कि "पवित्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मेरा अपना स्वभाव है। मैं स्वभाव से मुक्त हूँ। मेरा स्वभाव ही शुचिता और पवित्रता है और इसीलिए भौतिक और व्यावहारिक जगत् से अपनी मिथ्या आसक्ति हटाकर मैं सभी अपवित्रता और बुराइयों का परित्याग कर रहा हूँ।"

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "यदि तुम्हें सभी देवी-देवताओं पर विश्वास है किन्तु अपने आप पर विश्वास नहीं है तो तुम्हारे लिये मुक्ति नहीं है।" पाप का भाव किसी विशेष स्वभाववाले व्यक्तियों के लिए तथा साधना के प्रारम्भिक सोपानों के लिए अच्छा हो सकता है, पर तभी जब वह एक अच्छा जीवन बनाने के लिये अंकुश का काम करे। किन्तु अपवित्रता की इन सब पपड़ियों से छूटने का श्रेष्ठ उपाय है अपने अन्तर्निहित शाश्वत शुद्ध स्वभाव का चिन्तन करना।

■

सिद्ध होना हो, तो प्रबल अध्यवसाय चाहिए, मन का अपरिमित बल चाहिए। अध्यवसायशील साधक कहता है, "मैं चुल्लू से समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर-चूर हो जायेंगे।" इस प्रकार का उत्साह, इस प्रकार का दृढ़ संकल्प लेकर कठोर साधना करो। उस परमपद की प्राप्ति अवश्य होगी।

—स्वामी विवेकानंद

सुरेन्द्रनाथ मित्र

डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा

विश्व के समस्त अवतारी पुरुषों के जीवन में यह तथ्य सामान्य रूप से घटित होता है कि जहाँ वे अपनी महत्तर आध्यात्मिक शक्तियों से भक्तों एवं श्रद्धालु जनों को कृतार्थ करते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे अधम और पापी जनों का उद्धार भी करते हैं। देवदूत ईसा ने पतित वेश्याओं को भी ईश्वरीय स्नेह का आस्वादन कराया था और चैतन्य महाप्रभु के स्वर्गिक प्रेम-प्रवाह में नदिया के दो अधम जनों, जगाई और मधाई के कल्मष भी धुल गये थे तथा वे भक्तश्रेष्ठ हो गये थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्याह्न में विश्व पुनः एक देवमानव को पृथ्वी पर अवतरित होते देखता है। राजप्रासादों से बहुत दूर बंगाल के एक वैभवविहीन परिवार में ईश्वर-तनय की मानवी लीला का शुभारम्भ होता है। इस बार ईसा का स्वर्गिक स्नेह, तथागत की अपरिसीम करुणा और श्री चैतन्य की भगवद्विह्वलता एक ही मनुष्य में साकार हो उठते हैं। इन्हें संसार दक्षिणेश्वर के सन्त के रूप में जानता है। दक्षिणेश्वर-स्थित भवतारिणी देवी के इस पुजारी के पुनीत वर्चस्व से जहाँ विश्व का आध्यात्मिक पुनर्जागरण घटित होता है, वहीं इस मानवी शरीर में ईश्वरत्व की सम्पूर्ण विधाएँ प्रस्फुटित होती हैं। युगावतार श्रीरामकृष्ण समग्रगत आध्यात्मिक साधनाओं

में पूर्णकाम होकर विश्वगुरु के पद पर अधिष्ठित हो जाते हैं। उनके चिरआकर्षणकारी व्यक्तित्व की सुरभि से खिंचकर तत्कालीन युग के आध्यात्मिक मनीषी उनके चरणों के समीप उपस्थित होते हैं, और इनके साथ ही आते हैं जगाई और मधाई के समान, दस्यु अंगुलिमाल और रत्नाकर की भाँति अराजक और अनैतिक जीवन में ग्रस्त आचारभ्रष्ट जन। अवतारों के मन में अच्छे और बुरे का कोई पक्षपात नहीं होता। वे एक ही भाव से भक्तों को भी ग्रहण करते हैं और अविश्वासियों को भी, धार्मिकों को भी और पतितों को भी। श्रीरामकृष्ण परमहंस के समीप जहाँ प्रसिद्ध ब्राह्मसमाजी नेता केशवचन्द्र सेन और नरेन्द्रनाथ दत्त जैसे महान् और युगान्तरकारी पुरुष आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त करते हैं, तो वहीं नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र घोष और सुरेन्द्रनाथ मित्र जैसे जीवन के कर्दम में फँसे हुए व्यक्ति भी अतीन्द्रिय जीवन के आनन्द का आस्वादन कर ईश्वरीय पथ के पथिक बनते हैं।

जो लोग भौतिकता को ही अलम् समझते हैं तथा जिनके लिए इन्द्रियासक्त जीवन ही वरेण्य हो, उनके जीवन में भी ऐसे क्षण आते हैं जब उन्हें संसार से घोर निराशा होती है और वे जीना बेमानी समझते हैं। ऐसी दशा में या तो वे अपनी चेतना को तरह तरह के नशों में डुबाने का प्रयास करते हैं अथवा

अपने जीवन का अन्त कर डालते हैं। ऐसी ही घनीभूत निराशा कलकत्ता के सिमुलिया मुहल्ले के निवासी सुरेन्द्रनाथ मित्र को हुई थी और वे आत्महत्या करने की बात भी सोचने लगे थे। जब यह बात उनके दो पड़ोसियों, रामचन्द्र दत्त और मनोमोहन मित्र को मालूम हुई तब उन्होंने सुरेन्द्रनाथ की सहायता करने का विचार किया। वैसे तो, सुरेन्द्रनाथ का जीवन बाह्यतः सुखी था। वे एक ब्रिटिश फर्म में उच्चाधिकारी थे तथा उन्हें प्रतिमाह लगभग ४०० रु. मिला करते थे। उच्च शिक्षित सुरेन्द्रनाथ का शरीर पर्याप्त सुदृढ़ और बलिष्ठ था। किन्तु वे ईश्वर पर आस्था नहीं रखते थे। वे तर्क के द्वारा सारे संसार को समझ लेना चाहते थे। और जब तर्क ने उन्हें मनोविघटन के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया तब तीस साल के इस युवक को आत्महत्या के अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं सूझा। युवावस्था तथा धन की प्रचुरता लोगों को जिस कुपथ की ओर प्रेरित करती है, सुरेन्द्रनाथ उसके अपवाद नहीं थे। शराब पीना उनकी 'दिनचर्या थी। रामचन्द्र दत्त और मनोमोहन मित्र ने विचार किया कि इस मन से थके युवक को दक्षिणेश्वर के सन्त ही सुधार सकते हैं तथा उन्होंने सुरेन्द्रनाथ को उनके पास चलने के लिये कहा। तब सुरेन्द्रनाथ ने उन पर व्यंग्य करते हुए कहा, "यह ठीक है कि आप सब उन पर श्रद्धा करते हैं, पर आप मुझे वहाँ क्यों ले जाना चाहते

हैं ? वहाँ जाने की योग्यता मुझमें नहीं है। मैं तो वहाँ हंसों के बीच बगुला-जैसा दिखूंगा। मैंने यह सब बहुत देख लिया है। अगर उसने कुछ ऐसी-वैसी बातें की तो मैं उसकी कनपटी पर एक घूंसा जमा दूंगा।"

फिर भी पड़ोसियों के आग्रह से गर्वोन्मत्त सुरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीरामकृष्ण देव उस समय अपने कमरे में समवेत भक्तों से ईश्वर-चर्चा कर रहे थे। रामचन्द्र दत्त और मनोमोहन मित्र ने उन्हें प्रणाम किया, पर सुरेन्द्रनाथ बिना नमस्कार किये अकड़कर बैठ गये। ठाकुर अत्यन्त मधुर एवं हृदयस्पर्शी वाणी में बता रहे थे कि जो व्यक्ति अपने आप पर भरोसा करता है, वह पतित हो जाता है। सुरेन्द्रनाथ ने अनेक संन्यासियों और विद्वानों के भाषण सुने थे, उनसे बातें भी की थीं किन्तु दक्षिणेश्वर के इस सन्त की वाणी सर्वथा भिन्न थी। सुरेन्द्रनाथ मंत्र-मुग्ध होकर युगावतार का प्रवचन सुनने लगे। ठाकुर कह रहे थे, "इस बात में कोई सन्देह नहीं कि आध्यात्मिक साधनाएँ जरूरी हैं, पर साधक एक-जैसे नहीं होते। साधक दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के साधक बन्दर के बच्चे के समान होते हैं और दूसरे प्रकार के साधक बिल्ली के बच्चे की तरह। बन्दर का बच्चा बड़ी सावधानी से अपनी माता को पकड़े रहता है। इसी-प्रकार कुछ साधक ऐसे होते हैं जो यह सोचते हैं कि ईश्वर का दर्शन प्राप्त करने के लिए कुछ निश्चित

संख्या तक ईश्वर के मंत्र का जप करना चाहिए, कुछ निश्चित समय तक उनका ध्यान करना चाहिए तथा कुछ निश्चित साधनाएँ करनी चाहिए। इस प्रकार के साधक अपने स्वतः के प्रयास से भगवान् को पाना चाहते हैं। पर बिल्ली का बच्चा स्वयं अपनी माता को नहीं पकड़ पाता। वह जमीन पर पड़ा रहता है और 'म्याऊँ म्याऊँ' करता रहता है। वह सब कुछ अपनी माता पर छोड़ देता है। बिल्ली कभी अपने बच्चे को बिस्तर पर रखती है, कभी छत पर, तो कभी लकड़ियों के ढेर पर। वह अपने बच्चे को मुँह में दबाकर इधर-उधर फिरती रहती है। इसी प्रकार कुछ ऐसे साधक होते हैं जो जप-ध्यान आदि नहीं कर पाते, वे तो केवल ईश्वर को पुकारते रहते हैं। ईश्वर उनकी पुकार को सुनते हैं और उनसे दूर नहीं रह पाते।" श्रीरामकृष्ण देव ने यह भी बताया कि जो बच्चे अपने पिता की उँगली पकड़ कर रास्ते में चला करते हैं, वे कहीं भी ठोकर खाकर गिर सकते हैं, किन्तु जिस बच्चे का हाथ उसके पिता ने स्वयं पकड़ लिया हो उसे गिरने का भय नहीं होता। फिर ठाकुर बोले, "लोग बन्दर के बच्चे का-सा व्यवहार क्यों करते हैं, वे बिल्ली के बच्चे के समान क्यों नहीं हो जाते ?"

सुरेन्द्रनाथ को प्रतीत हुआ कि श्रीरामकृष्ण उन्हीं के लिए ये सब बातें कह रहे हैं। वे युगावतार के वचनों से अभिभूत हो चुके थे, उनके संशय का कुहासा हट

चुका था और उन्हें पहली बार ईश्वर की जीवन्त उपस्थिति का आभास मिला था। जब वे ठाकुर के कमरे में घुसे थे, तब बिना नमस्कार किये बैठ गये थे, पर जब वे वहाँ से उठे तो उनका हृदय श्रीरामकृष्ण के प्रति श्रद्धा से भर चुका था और उन्होंने बड़े भक्ति भाव से दक्षिणेश्वर के सन्त को साष्टांग प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण ने अपने प्रिय पार्षद को पहचानकर उसे अपने समीप खींच लिया था। उड़ाऊ पूत पिता के घर लौट आया था! कालान्तर में सुरेन्द्रनाथ कहा करते थे, "मेरा गुरु साधारण नहीं है। मैं उन्हें घूंसा मारने गया था पर उन्होंने मुझे ही घूंसा जमा दिया!"

श्रीरामकृष्ण देव ने केवल सुरेन्द्रनाथ जैसे भटके हुए व्यक्ति पर ही कृपा नहीं की, प्रत्युत उन्होंने जीवन के अधस्तल में पैठे नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र घोष को भी भक्तराज बना दिया था। एक बार जब सुरेन्द्रनाथ और गिरीशचन्द्र दोनों दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के समीप उपस्थित थे, तब उन्होंने सुरेन्द्रनाथ से कहा, "तुम कहते हो कि तुमने बड़ा अराजक जीवन जिया है, पर यहाँ एक और व्यक्ति है.... ।" सुरेन्द्र बात काटते हुए गिरीशचन्द्र को लक्ष्य करके बोल उठे, "हाँ, ये इस नाते मेरे बड़े भाई हैं!"

श्रीरामकृष्ण देव के स्वर्गिक स्नेह ने सुरेन्द्रनाथ के हृदय का अदृश्य रूप से संस्कार करना प्रारम्भ कर दिया।

किन्तु इस संस्कार की प्रक्रिया इतनी सहज थी कि स्वयं श्रीरामकृष्ण देव के भक्तों को, यहाँ तक कि स्वयं सुरेन्द्रनाथ को भी इसका आभास नहीं हो पाया था। सुरेन्द्र को दक्षिणेश्वर आते अनेक दिन हो चुके थे पर उनकी बाह्य दिनचर्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। ठाकुर के भक्त उनकी शक्ति से अवगत थे। उन्हें यह आश्चर्य हो रहा था कि सुरेन्द्रनाथ ठाकुर की कृपा के बावजूद भी सुधर क्यों नहीं रहे हैं। सुरेन्द्र की आदतों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ था और वे इससे दुखी भी थे। एक दिन सुरेन्द्र के सामने ही श्रीरामकृष्ण देव के एक भक्त ने उनसे कहा, "महाराज! यदि आपने इन्हें अपने समीप रखा है तो आप इन्हें और क्यों भटकने दे रहे हैं? इन पर कृपा कीजिए, जिससे ये सदा के लिये सुधर जायँ।" ठाकुर ने उत्तर दिया, "मैं भला क्या कर सकता हूँ? मुझमें कौन सी शक्ति है? अगर जगन्माता चाहें तो वे ऐसा कर सकती हैं।" इतना कहकर ठाकुर बाहर चले आये। सुरेन्द्र को यह सब देख-सुन कर बड़ा दुख हुआ और वे रोते हुए भक्तों से कहने लगे, "अच्छा होता कि मैं यहाँ आता ही नहीं। पहले तो मैं निश्चिन्त भाव से पाप-कर्मों का सम्पादन करता था, पर अब जब मैं भक्त के रूप में इन्हीं कार्यों को करता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं केवल पापी ही नहीं, ढोंगी भी हूँ।" आँसुओं की धार सुरेन्द्र के कल्मषों को धोने लगी। अन्त में श्रीरामकृष्ण द्रवित होकर कह उठे, "माँ तुम सबको आनन्द प्रदान करें।"

श्रीरामकृष्ण देव की यह वाणी कालान्तर में चरितार्थ हुई। सुरेन्द्रनाथ का जीवन आमूल परिवर्तित हो गया। किन्तु यह परिवर्तन हठात् नहीं हुआ प्रत्युत इसमें पर्याप्त समय लगा था। दीर्घकाल के मानसिक संघर्ष के उपरान्त ही सुरेन्द्रनाथ अमल-धवल हो सके थे। श्रीरामकृष्ण देव के निरन्तर साहचर्य से सुरेन्द्रनाथ की मनोदृष्टि में परिवर्तन होने लगा था। इन्हीं दिनों एक उल्लेखनीय घटना घटती है। अब तक यद्यपि श्रीरामकृष्णदेव और सुरेन्द्रनाथ के सम्बन्ध घनिष्ठ हो चुके थे फिर भी सुरेन्द्र मद्य-पान छोड़ नहीं सके थे। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि वे पहले से अधिक मद्यप हो गये हैं। उनकी यह स्थिति देख उनके पड़ोसी रामचन्द्र दत्त बहुत चिन्तित हुए। वे कट्टर वैष्णव थे; उन्होंने सुरेन्द्र से कहा कि अगर वे मद्यपान नहीं छोड़ेंगे तो उनके कारण दूसरे लोग ठाकुर को भी भला-बुरा कहेंगे। तब सुरेन्द्र बोले, "आप तो इस सम्बन्ध में इतनी चिन्ता कर रहे हैं, पर ठाकुर ने कभी भी इस विषय पर अपनी अरुचि प्रदर्शित नहीं की। वे तो इसके बारे में पूरी तरह से जानते हैं। अगर यह आदत सचमुच इतनी बुरी होती तो क्या श्रीरामकृष्ण मुझे ताड़ना न देते? जहाँ तक इसे छोड़ने का प्रश्न है तो अगर ठाकुर आज्ञा दें तो मैं अपनी पूरी शक्ति से, यहाँ तक कि जीवन के मूल्य पर भी, इसे छोड़ सकता हूं।" दोनों की विचारधारा इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न थी। वे निर्णय के लिए दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीरामकृष्ण

अपने कमरे में ही थे। उनके पहुँचते ही अन्तर्यामी ठाकुर ने मद्यपान की चर्चा प्रारम्भ कर दी। वे सुरेन्द्र से बोले, "देखो, तुम जो भी पियो उसे पहले जगन्माता को अर्पित कर दो। सावधानी रखो कि होश बना रहे, तुम्हारा सिर न घूमने पाये और तुम्हारे पैर लड़खड़ाने न लगें। तुम जगन्माता का जितना अधिक चिन्तन करोगे, तुम्हारी पीने की आदत उतनी ही कम हो जायगी। वे समस्त आनन्द की मूल स्रोत हैं। अगर तुमने उन्हें जान लिया तो तुम्हें तत्काल आनन्द की प्राप्ति होगी।" आनन्द की चर्चा करते ही ठाकुर भावाविष्ट हो उठे और गाने लगे-- "अहा, मेरी माता को तो देखो! वे शिव के साथ आनन्द में डूबी हुई क्रीड़ा कर रही हैं। उन्होंने स्वर्गिक सुरा का पान किया है। वे झूमती तो हैं, पर गिरती नहीं।' श्रीरामकृष्ण अद्भुत गुरु थे। वे अपने शिष्यों की क्षमता को पहचानकर उसके अनुरूप उनका कर्त्तव्य निर्धारित करते थे। सुरेन्द्र को उन्होंने नकारात्मक उपदेश नहीं दिया। उन्होंने उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए ऐसा मार्ग दिखाया जिससे उनकी आदत उनके उन्नयन की हेतु बन जाय। इसके उपरान्त सुरेन्द्र ऐसा ही करने लगे। जब कभी वे जगन्माता को मद्य निवेदित कर ग्रहण करते तो उन्हें नशे के स्थान पर ईश्वरीय चिन्तन की प्रेरणा मिलती। ऐसी दशा में उनकी आँखों से आसूं बहने लगते और उनके मुख से 'माँ, माँ' का उच्चारण होने लगता। वे कभी कभी गहरे ध्यान में भी डूब जाया करते थे।

यद्यपि उनकी मदिरासक्ति श्रीरामकृष्ण देव के निर्देश के फलस्वरूप बहुत कम हो गयी थी, पर कभी-कभी उन्हें इसके कारण पर्याप्त ग्लानि भी होती थी। वे प्रति रविवार को नियमित रूप से दक्षिणेश्वर जाया करते थे, पर अपनी दुर्बलताओं को पूर्णतः न हटा पाने के कारण एक रविवार को आत्मग्लानि से पीड़ित हो वे दक्षिणेश्वर नहीं जा सके। तब श्रीरामकृष्ण देव से उनके एक भक्त ने कहा कि सुरेन्द्र पुरानी सोहबत में पड़ गये होंगे, इसीलिए वे यहाँ आज नहीं आये हैं। इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, "उसे अभी भी सुख की कुछ चाह है। कुछ दिनों तक उसे सुख भोग लेने दो, फिर उसमें कोई भी चाह बाकी नहीं रहेगी और वह पवित्र बन जायेगा।" अगले रविवार को जब सुरेन्द्र वहाँ आये तब वे लज्जा से दूर ही बैठ गये। श्रीरामकृष्ण उन्हें देखकर बोले, "अरे, तुम चोरों की तरह छिपकर क्यों बैठे हो, समीप आओ।" फिर वे भावाविष्ट होकर कह उठे, "यदि लोग कहीं जाते हैं तो वे जगन्माता को अपने साथ क्यों नहीं ले जाते? यदि जगन्माता उनके साथ रहें तो वे अनेक दुष्कर्मों से बच जायेंगे।" श्रीरामकृष्ण देव के कथन से सुरेन्द्र को एक नया आलोक मिला। वे एक ऐसे मरीज के समान थे जिस पर कोई औषधि कारगर नहीं होती थी। श्रीरामकृष्ण देव ने बातों ही बातों में उन्हें एक अभूतपूर्व निदान प्रदान कर दिया।

श्रीरामकृष्ण सुरेन्द्र के आध्यात्मिक स्तर के सम्बन्ध

में जानते थे। उन्होंने सुरेन्द्र को अनेक अवसरों पर ताड़ना दी थी, पर उसे कभी निराश नहीं किया था। वे निरन्तर सुरेन्द्र के आध्यात्मिक उन्नयन की चेष्टा में लगे रहे। एक बार उन्होंने सुरेन्द्र से कहा था, "यहाँ बार बार आओ। न्यांगटा (श्रीरामकृष्ण देव की अद्वैत-वेदान्त साधना के गुरु तोतापुरी) कहा करता था कि पीतल के लोटे को रोज माँजना पड़ता है, अन्यथा वह मैला हो जाता है। तुम्हें निरन्तर साधुओं की संगति करनी चाहिए। कामिनी और कांचन का त्याग संन्यासियों के लिए है। यह तुम्हारे लिए नहीं है। तुम्हें प्रायः एकान्त स्थान में जाकर ईश्वर को हृदय से पुकारना चाहिए! तुम्हारा वैराग्य मानसिक होना चाहिए। जब तक भक्त वीर न हो तब तक वह ईश्वर और संसार को एक साथ लेकर नहीं चल सकता। मैं यह सब तुम्हें क्यों कह रहा हूँ? तुम एक व्यावसायिक फर्म में काम करते हो, तुम अपने दफ्तर में झूठ बोलते हो। फिर मैं तुम्हारे द्वारा दिये गये खाद्यान्न का क्यों ग्रहण करता हूँ? इसलिए कि तुम अपने धन का दान करते हो। तुम जितना कमाते हो उससे ज्यादा दे डालते हो। 'नीबू का बीज नीबू से भी बड़ा है' ऐसा लोग इसीलिए कहते हैं।"

सुरेन्द्र पक्के सांसारिक व्यक्ति थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव की महत्ता को सहज ही स्वीकार नहीं किया था। पहले वे अविश्वासी और बुद्धिवादी थे, पर श्रीरामकृष्ण के पारस-स्पर्श से वे एक महान् आस्तिक और भक्त बन

गये। ऐसे तो वे यह जानते थे कि लोग श्रीरामकृष्ण देव को अवतार-पुरुष मानते हैं तथा भक्तों की दृष्टि में श्रीरामकृष्ण और काली अभेद हैं, पर उन्हें इस पर विश्वास नहीं हो पाया था। एक बार अपने पूजाघर में बैठकर ध्यान करते समय उनके मन में यह विचार उठा कि "यदि श्रीरामकृष्ण तत्काल यहाँ प्रकट हो जायँ तो मैं उनके ईश्वरत्व पर विश्वास कर लूंगा।" दूसरे ही क्षण श्रीरामकृष्ण उनके समक्ष उपस्थित थे! सुरेन्द्र के संशय के पाश छिन्नभिन्न हो गये और उनके हृदय में आस्था की नवीन ज्योति प्रज्वलित हो उठी। उन्होंने काशीपुर उद्यान में भक्तों के मध्य अपनी आस्था की घोषणा भी की। उस १३ अप्रैल सन् १८८६ के दिन रात को ८ बजे सुरेन्द्र अपने दफ्तर से सीधे काशीपुर पहुँचे। उन दिनों श्रीरामकृष्ण गले की व्याधि से पीड़ित हो काशीपुर उद्यान में निवास कर रहे थे। सुरेन्द्र अपने साथ फल और मालाएँ भी लेते आये थे। श्रीरामकृष्ण देव को प्रणाम कर सुरेन्द्र भावविगलित वाणी में कहने लगे, "मैं दफ्तर का सारा काम निपटाकर यहाँ आ रहा हूँ, क्योंकि मैं सोच रहा था कि एक ही समय दो नावों में सवार होना अच्छा नहीं है। इसीलिए मैंने पहले अपना काम खतम किया और फिर यहाँ आया। आज बँगला वर्ष का पहला दिन है और मंगलवार भी है। मैं काली की पूजा करने कालीबाड़ी नहीं गया। मैंने सोचा कि यदि मैं उस महापुरुष के दर्शन कर लूं जो स्वयं काली

हैं तथा जिन्होंने काली को भली-भाँति समझ लिया है, तो मेरा उनके पास जाना ही पर्याप्त होगा।" इतना कहकर सुरेन्द्र ने पुष्पहार और फल श्रीरामकृष्ण देव को अर्पित किये और बार-बार भूमिष्ठ होकर प्रणाम करने लगे। बाद में सुरेन्द्र ने भक्तों को बताया कि कल बँगला वर्ष का अन्तिम दिन था तथा उन्होंने अपने घर में ही श्रीरामकृष्ण देव के चित्र की पूजा की थी। श्रीरामकृष्ण देव ने उनके भक्तिभाव को देखकर उच्छ्वसित भाव से कहा था, "अहा! कैसी भक्ति है!"

सुरेन्द्रनाथ को भक्तिरसामृत का स्वाद मिल चुका था। पर वे कृपण के समान अकेले ही भक्ति का आस्वादन नहीं करना चाहते थे प्रत्युत, दूसरों को भी कराना चाहते थे। उनके घर में निरन्तर भक्तों का समागम होता रहता था और श्रीरामकृष्ण देव ने भी अनेकानेक अवसरों पर अपनी चरण-धूलि से उनके घर को पवित्र किया था। उन्हींके घर नरेन्द्रनाथ ने प्रथम बार युगावतार के दर्शन किये थे। सन् १८८१ के एक दिन जब सुरेन्द्रनाथ ने ठाकुर जो अपने घर आमंत्रित किया था, तब भजन गाने के लिए उन्होंने अपने पड़ोसी विश्वनाथ दत्त के सुपुत्र नरेन्द्रनाथ को भी बुला लिया था। श्रीरामकृष्ण जब भी कलकत्ता आते, वे सुरेन्द्रनाथ के घर अवश्य जाते थे। अनेक पर्वों पर सुरेन्द्र के घर में उपस्थित होकर ठाकुर ने भगवच्चर्चा एवं कीर्तनों से ईश्वरीय-भाव की उद्दीपना की थी। वे सुरेन्द्रनाथ के काँकुरगाछी-स्थित उद्यान में भी गये थे।

श्रीरामकृष्ण देव के लोकोत्तर सान्निध्य में सुरेन्द्रनाथ की आध्यात्मिक यात्रा चल रही थी। उनके आनुषंगिक दोष श्रीरामकृष्ण के कृपा-कटाक्ष से तिरोहित होते जा रहे थे। अपार स्नेहमय श्रीरामकृष्ण शिष्यों के सुधार के लिए कभी मधुर बनते थे तो कभी कठोर हो जाते थे। सन् १८८१ के ग्रीष्म के एक दिन सुरेन्द्र ने उन्हें अपने घर आमंत्रित किया और उन्हें एक बहुमूल्य हार पहनाया। किन्तु श्रीरामकृष्ण देव ने तत्काल उसे नोचकर फेंक दिया। यह देख सुरेन्द्र का अहंकार आहत हो उठा। वे कमरे से बाहर निकलकर बरामदे में खड़े भक्तों से रुँधे स्वर में कहने लगे, "गंगा के पश्चिमी किनारे के गाँव में रहनेवाला यह ब्राह्मण ऐसे हारों के बारे में क्या जाने? मुझे इसके लिए कितना खर्च करना पड़ा है। इसीलिए क्षुब्ध होकर मैंने कह दिया कि शेष हार अन्य लोगोंको पहना दिये जायें। पर अब मैं यह महसूस करता हूँ कि यह मेरी ही गलती थी। ईश्वर धन की परवाह नहीं करते। मैं अहंकारी हूँ। ईश्वर भला मेरी पूजा को कैसे स्वीकार कर सकते हैं! अब मेरा जीवन अर्थहीन हो गया है। अब इसका कोई प्रयोजन नहीं रहा।" अहंविगलन की दशा में बहते हुए आँसुओं ने सुरेन्द्रनाथ को धौत-धवल बना दिया। जब उन्होंने अन्दर जाकर देखा कि श्रीरामकृष्ण फेंके गये हार को हाथ में लपेटकर भावावेश में नृत्य कर रहे हैं तो उनकी कृपा का स्मरण कर सुरेन्द्र का हृदय अभिभूत हो उठा। नृत्य-कीर्तन की समाप्ति पर श्रीरामकृष्ण देव ने

अपूर्व स्नेह से जब सुरेन्द्र से कहा, "क्या तुम मुझे कुछ नहीं खिलाओगे", तब उनका सारा अवसाद जाता रहा। फिर ठाकुर ने भीतर जाकर मिष्टान्न ग्रहण किये।

एक अन्य अवसर पर भी श्रीरामकृष्ण ने सुरेन्द्र की त्रुटि ठीक की थी। एक दिन सुरेन्द्र श्रीरामकृष्ण को बता रहे थे कि उन्होंने वृन्दावन में पण्डों को छकाने के लिए यह कह दिया था कि वे एक दिन वहाँ और रुकेंगे, पर असल में वे उस दिन लौट आये थे और पण्डे ढापते रह गये। यह सुनकर श्रीरामकृष्ण सुरेन्द्र पर रुष्ट हो गये और कहने लगे कि असत्य कहकर उसने अच्छा नहीं किया। उनका ध्यान बदलने के लिए सुरेन्द्रनाथ ने बताया कि वृन्दावन में वे अनेक अच्छे साधुओं से भी मिले थे। पर श्रीरामकृष्ण ने फिर पूछा कि क्या उसने उन्हें कुछ दिया। सुरेन्द्र का नकार सुनकर वे पुनः रुष्ट हो गये और कहने लगे, "तुमने अनुचित कार्य किया है। साधुओं और भक्तों को कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिए। जिनके पास धन है उन्हें ऐसे व्यक्तियों के प्रति अवश्य दान करना चाहिए।"

सुरेन्द्रनाथ तार्किक भी थे। तर्क मात्र एक साधन है। वह मनुष्य को लक्ष्य-बोध नहीं करा सकता, पर कभी कभी वह उसे अन्धकार में ढकेल देता है। ठाकुर ने सुरेन्द्र के इस दोष का भी परिहार किया था। एक बार सुरेन्द्र कहने लगे, "ईश्वर अगर महान् न्यायी हैं तो उन्हें स्वयं अपने भक्तों की देखभाल करनी चाहिए।" इस पर

श्रीरामकृष्ण ने कहा, "यह संसार ईश्वर की माया है। माया की परिधि में ऐसी अनेक जटिलताएँ हैं जिन्हें समझा नहीं जा सकता। ईश्वर के कार्य बोधगम्य नहीं हैं।" श्रीरामकृष्ण देव के वचनों को सुनकर सुरेन्द्र की तार्किकता जाती रही। जब उनके हृदय में ईश्वरीय अनुराग का उदय हुआ तब वे संसार को त्यागने का विचार करने लगे। जब उन्होंने अपना संकल्प श्रीरामकृष्ण देव को बताया तो वे बोले, "नहीं, नहीं, तुम संसार क्यों छोड़ोगे? संसार का मानसिक रूप से त्याग करो। अनासक्त होकर रहो।" एक अन्य दिन सुरेन्द्र ने ठाकुर से पूछा, कि वे ध्यान क्यों नहीं कर पाते? श्रीरामकृष्ण सुरेन्द्र की क्षमता को जानते थे, पर उन्होंने यह नहीं कहा कि ध्यान करना उसके वश की बात नहीं हैं बल्कि उन्होंने उसीसे पूछा, "क्या तुम यदाकदा ईश्वर का चिन्तन करते हो?" सुरेन्द्र ने बताया, "मैं कभी कभी जगन्माता का नाम लेता हूँ और रात को उनका नाम लेते-लेते सो जाता हूँ।" तब ठाकुर ने कहा, "तुम्हारे लिए जगन्माता का स्मरण करना ही पर्याप्त है।"

एक बार सुरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर में रहने के लिए अपना बिस्तर इत्यादि ले आये। दो-तीन दिन व्यतीत कर वे वापस लौट गये। इस सम्बन्ध में ठाकुर ने कहा था, "वह अपना बिस्तर यहाँ ले आया और एक या दो दिन यहाँ रहा। फिर उसकी पत्नी ने कहा, 'तुम दिन में जहाँ चाहो वहाँ जा सकते हो, पर रात को तुम्हें घर

में ही रहना होगा।' बेचारा सुरेन्द्र क्या करता ? अब बाहर रात बिताने का कोई बहाना उसके पास न रहा। "फिर भी सुरेन्द्रनाथ आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होते ही गये तथा श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से उन्हें अलौकिक अनुभूतियाँ भी हुई। १७ अप्रैल, सन् १८८६ को सुरेन्द्रनाथ पुष्पहार लेकर श्रीरामकृष्ण देव के पास पहुँचे। उन्होंने पुष्पमाला पहनाकर ठाकुर को प्रणाम किया। ठाकुर ने उन्हें समीप बुलाया और अपने गले से माला उतारकर सुरेन्द्र को पहना दी। फिर उन्होंने सुरेन्द्र को अपने चरण दबाने के लिए कहा। चरणों का स्पर्श करते ही सुरेन्द्र भावाविष्ट हो उठे। उनकी चेतना लोकोत्तर आनन्द का पान करने लगी। यह घटना सुरेन्द्र की साधना की एक बड़ी उपलब्धि थी। उनका सारा जीवन बदल गया और ईश्वरीय अनुराग उन्हें अहर्निश प्लावित करने लगा।

एक बार सुरेन्द्र ने अपने घर में दुर्गापूजा के अवसर पर जगन्माता की प्रतिमा स्थापित की थी। तब ठाकुर श्यामपुकुर में व्याधिग्रस्त थे। विसर्जन के दिन सुरेन्द्र का हृदय कचोटने लगा। जगन्माता के विछोह की आशंका से वे श्रीरामकृष्ण देव के समीप पहुँचकर रुदन करने लगे। उनकी यह अवस्था देख महेन्द्रनाथ गुप्त की आँखों में भी आँसू आ गये। श्रीरामकृष्ण देव ने उनसे सुरेन्द्र के भक्तिभाव की प्रशंसा करते हुए कहा, "अहा! उसकी कितनी भक्ति है! ईश्वर के प्रति उसका कितना स्नेह है!" फिर वे सुरेन्द्र से बोले, "कल सन्ध्या ७-७॥

बजे भावावस्था में मैंने तुम्हारा पूजाघर देखा। मैंने देखा कि जगन्माता की प्रतिमा चिन्मयी हो उठी है तथा यह स्थान और तुम्हारा पूजाघर प्रकाश की धारा से जुड़ गया है" सुरेन्द्र ने कहा, "उस समय मैं पूजाघर में जगन्माता के लिए रुदन कर रहा था। मुझे लगा कि जगन्माता मुझसे कह रही हैं कि 'मैं फिर आऊँगी'।"

सुरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के रसददार थे। वे जगन्माता के द्वारा श्रीरामकृष्ण देव के अवतार-कार्य में सहायता करने और उनके लिए भौतिक दृष्टि से आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करने के लिए भेजे गये थे। जगन्माता ने श्रीरामकृष्ण देव को बता दिया था कि वे उनके लिए चार रसददार भेज रही हैं जो उनके हेतु खाद्यादि आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति करेंगे। सुरेन्द्रनाथ उनमें से एक थे। दक्षिणेश्वर आने के बाद से वे श्रीरामकृष्ण देव और उनके भक्तों के भोजन और निवास का सारा व्यय वहन करते रहे। यद्यपि उनके दान का विवरण ज्ञात नहीं है तथापि वे जितना कमाते थे उससे अधिक परोपकार में खर्च कर देते थे। जब श्रीरामकृष्ण देव को गले की व्याधि से पीड़ित होने पर स्वास्थ्य-लाभ हेतु काशीपुर उद्यान लाया गया, तब वे अपने भोजन एवं निवास के व्यय का भार भक्तों पर नहीं डालना चाहते थे। इसलिए उन्होंने बलराम बोस और सुरेन्द्र से सारा व्यय वहन करने के लिए कहा था। यह निश्चित हुआ था कि सुरेन्द्र मकान का किराया देंगे जो ८०) प्रतिमास था तथा बलराम बोस भोजनादि का प्रबन्ध करेंगे। पर सुरेन्द्र

ने अन्य मदों पर भी मुक्त हस्त से धन दिया था तथा प्रतिमाह इस कार्य में उनके लगभग २००) व्यय होते थे। यही नहीं, युगावतार के तिरोधान के उपरान्त उनके अवशेषों की स्थापना के लिए उन्होंने एक हजार रुपये का भूमि-खण्ड भी खरीदा था। उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के जयन्ती-महोत्सव का जहाँ पर शुभारम्भ किया था, वहाँ उन्हीं की सहायता से रामकृष्ण मठ का भी प्रारम्भ हुआ था।

रामकृष्ण मठ के प्रारम्भ करने में सुरेन्द्र के योगदान की कथा बड़ी हृदयस्पर्शी है। श्रीरामकृष्ण देव के लीला-संवरण के उपरान्त उनके कुछ बाल-भक्त तो घर लौटकर अध्ययन में लग गये, पर कुछ अन्य भक्त घर नहीं लौटे। तारक, काली, लाटू, गोपाल तथा अन्य जन तीर्थाटन के लिए निकल गये तथा युगावतार के उपदेशों के अनुरूप अपने जीवन का निर्माण करने के लिए आश्रय खोजने लगे। ऐसे ही समय एक दिन सुरेन्द्रनाथ के समक्ष श्रीरामकृष्ण देव प्रकट होकर बोले, "अरे, तू क्या कर रहा है? मेरे बच्चे सड़कों पर भटक रहे हैं, पहले उन्हें एक स्थान में एकत्र कर।" इस दिव्य-दर्शन से सुरेन्द्रनाथ अभिभूत हो गये। वे तत्काल नरेन्द्रनाथ के घर गये और पूरी घटना सुनाकर उनसे बोले, "भाई, कोई एक स्थान तय करो, जहाँ ठाकुर का चित्रपट, उनकी विभूति और अन्य वस्तुएँ रखी जा सकें, जहाँ उनकी दैनन्दिन पूजा हो और हम लोग संसार की चिन्ता से मुक्त होकर आ-जा सकें। मैं काशीपुर में जितनी राशि देता था उतनी सदा देता रहूँगा।" सुरेन्द्र के प्रस्ताव

को सुनकर नरेन्द्रनाथ अत्यन्त प्रसन्न हुए। बड़ी खोजबीन के बाद गंगा के तट पर वराहनगर में एक जीर्ण–शीर्ण मकान १०, महीने किराये पर लिया गया और इस प्रकार रामकृष्ण मठ का सूत्रपात हुआ। पहले दो महीने तो सुरेन्द्रनाथ ने तीस-तीस रुपये दिये, पर बाद में भक्तों की संख्या में वृद्धि होने पर वे सौ रुपया प्रति माह देने लगे। सुरेन्द्रनाथ के त्याग एवं दान के फलस्वरूप उस महान् संगठन का प्रारम्भ हुआ, जहाँ युगावतार के उपदेशों के अनुरूप कामिनी और कांचन के मोहपाश को तोड़कर ईश्वर-साक्षात्कार को जीवन का उद्देश्य बनानेवाले महापुरुषों को संघबद्ध किया गया। सुरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के लिए बड़े भाई के समान थे। जब तक वे जीवित रहे, उनकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे। उन्हें विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण देव विश्वधर्म के पुरोधा हैं। उन्होंने सर्वधर्मसमन्वय का एक चित्र भी बनाया था। इस चित्र के एक ओर मन्दिर, मसजिद और गिरजाघर बनाये गये थे जिनके सामने विभिन्न धर्मों के महापुरुष नर्तनरत थे तथा दूसरी ओर श्रीरामकृष्ण देव केशवचन्द्र सेन को सर्वधर्मसमभाव का उपदेश देते बताये गये थे। केशवचन्द्र सेन ने अनेक महोत्सवों में उनके इस चित्र का प्रदर्शन किया था। किन्तु श्रीरामकृष्ण देव के इस पार्षद की आयु अधिक नहीं थी। मात्र चालीस वर्ष धराधाम पर बिताकर वे २५ मई सन् १८९० को उसी लोक में लौट गये, जहाँ से उन्हें युगावतार की लीला में सम्मिलित होने के लिए भेजा गया था।

❁

गीता प्रवचन-९

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान।)

पिछले प्रवचन में हमने गीता के प्रथम श्लोक की पृष्ठभूमि पर विचार किया था और कहा था कि महाराज धृतराष्ट्र जब महाभारत-युद्ध के दसवें दिन भीष्मपितामह के आहत होने का समाचार सुनते हैं तो युद्ध के सम्बन्ध में विस्तार से जानने की इच्छा करते हुए अपने प्रिय और विश्वासपात्र मंत्री संजय से पूछते हैं—**धृतराष्ट्र उवाच—**

> **धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।**
> **मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥**

(धृतराष्ट्रः) – धृतराष्ट्र (उवाच) बोले—

(संजय) हे संजय (धर्मक्षेत्रे) धर्म के क्षेत्र में (कुरुक्षेत्रे) कुरुक्षेत्र में (युयुत्सवः) युद्ध करने की इच्छा वाले (समवेताः) इकट्ठा होकर (मामकः) मेरे लोगों (च) एवं (पाण्डवाः) पाण्डवों ने (किम्) क्या (एव) ही (अकुर्वत) किया।

धृतराष्ट्र बोले, "हे संजय ! कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठा होकर मेरे लोगों और पाण्डवों ने क्या किया?"

धृतराष्ट्र के इस प्रश्न से ऐसा लगता है कि उन्हें भीष्मपितामह के आहत होने तक युद्ध का कोई समाचार ही नहीं मिला। पर यह सम्भावना ठीक नहीं मालूम पड़ती; क्योंकि संजय प्रतिदिन ही युद्ध की खबरें महाराज धृतराष्ट्र को सुना जाते थे। तब युद्ध के दसवें दिन ही इस प्रकार का प्रश्न धृतराष्ट्र के मन में कैसे उठा यह

विचारणीय है। यह तो हम सभी जानते हैं कि दुर्योधन अपनी विजय के सम्बन्ध में आश्वस्त था, क्योंकि उसकी ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं। हम कह चुके हैं कि पाण्डवों के पास केवल सात अक्षौहिणी सेना थी। फिर, कौरवों की ओर से भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य एवं कर्ण जैसे महा बलवान् योद्धा थे। इसलिये धृतराष्ट्र भी अपने पुत्रों की विजय को निश्चित मानते थे। धृतराष्ट्र के इस सपने पर जबरदस्त आघात तब लगता है जब भीष्म का युद्ध में पतन हो गया। संजय के मुख से यह दारुण समाचार सुन धृतराष्ट्र सन्न रह गये और थोड़ी देर के लिए अपने होश-हवास गँवा बैठे। उन्हें कल्पना में भी आशा नहीं थी कि भीष्मपितामह इस प्रकार आहत हो जायेंगे। अब उन्हें ऐसा लगने लगा कि कौरवों की कहीं हार न हो जाय। इस डर से उनके भीतर कायरतासूचक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया होने लगी। वे मन ही मन सोचने लगे कि पाण्डव तो धर्मात्मा हैं; विशेषरूप से युधिष्ठिर तो अत्यन्त धर्मभीरु और कोमल प्रकृतिवाला है। कुरुक्षेत्र सदैव से धर्मक्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध रहा है। तो ऐसे धर्मक्षेत्र में आकर क्या युधिष्ठिर का धर्मभाव नहीं जागा? जिस क्षेत्र में बड़े बड़े यज्ञ किये गये और धर्मानुष्ठान सम्पन्न हुए, वहाँ उपस्थित होकर क्या युधिष्ठिर के मन में दया और करुणा नहीं उपजी? वह भला ऐसा घोर संहारात्मक युद्ध करने के लिये कैसे राजी हो गया? उसने युद्ध को बन्द ही क्यों न करवा

दिया ?--ऐसे ही विचार धृतराष्ट्र के मन में भीष्म-पतन के समाचार से उठने लगे, और इन्हीं विचारों से उद्वेलित हो वे संजय से उक्त प्रश्न पूछ बैठे।

धृतराष्ट्र का चरित्र एक सामान्य मानव का चरित्र है जो अनेकों प्रकार की कमजोरियों से भरा हुआ है। उन्हें अपने पुत्रों के प्रति अत्यन्त ममत्व है। अतएव यह जानकर भी कि दुर्योधन दुराचारी है, दुःशासन लम्पट है, वे चुप्पी साधे रहते हैं। गान्धारी ने कई बार उन्हें सलाह दी कि आप दुर्योधन का त्याग कर दें, पर पुत्र-मोह की प्रबलता ऐसी है कि महाराज धृतराष्ट्र अपनी आँखों के सामने अपने ही भाई पाण्डु के पुत्रों का अनर्थ होते देख भी मौन धारण किये रहते हैं। उनकी पुत्रों पर यह आसक्ति और पाण्डवों के प्रति परायापन उनके शब्दों से ही झलकता है जब वे संजय से पूछते हैं--'मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत'--'मेरे जनों और पाण्डु-पुत्रों ने क्या किया'? उनके लिए पाण्डुपुत्र 'मेरे जन' नहीं हैं। यह धृतराष्ट्र का बड़ा दोष है। नाम तो है 'राष्ट्र का धारण करनेवाला', पर वास्तव में वे राष्ट्र के विध्वंसक सिद्ध होते हैं। वे यदि चाहते और कुछ कठोरतापूर्वक अपने पुत्रों से बर्ताव करते, तो भारत-राष्ट्र वैसा विखण्डित और ध्वस्त नहीं हुआ होता जैसा वह महाभारत-युद्ध से हो गया।

जब धृतराष्ट्र सुनते हैं कि पाण्डवगण अपनी माता कुन्ती के साथ वारणावत नगर के लाक्षागृह में जलकर

मर गये तो अन्दर ही अन्दर वे बड़े प्रसन्न होते हैं, पर ऊपर से अपने को बड़ा दुखी दर्शाते हुए आँसू बहाते हैं। यह छल-कपट धृतराष्ट्र के चरित्र की विशेषता है जो आनुवंशिकता के रूप में उनके पुत्रों को प्राप्त दिखायी पड़ती है। वास्तव में वारणावत की योजना को धृतराष्ट्र का पोषण प्राप्त था। दुर्योधन जब उनसे कहता है कि हस्तिनापुरवासी पाण्डवों के पक्ष में हैं और युधिष्ठिर को राजा बनाना चाहते हैं, तो धृतराष्ट्र चिन्ता और शोक से आतुर हो जाते हैं। दुर्योधन कहता है (आदिपर्व, १४१।२३-२४)--

स विस्रब्धः पाण्डुपुत्रान् सह मात्रा प्रवासय।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु॥
विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम्।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन नाशय॥

--'पिताजी! आप पूर्ण निश्चिन्त होकर पाण्डवों को उनकी माता के साथ वारणावत भेज दीजिए और ऐसी व्यवस्था कीजिए जिससे वे आज ही चले जायें। मेरे हृदय में काँटा-सा चुभ रहा है, जो मुझे नींद नहीं लेने देता। शोक की आग प्रज्वलित हो उठी है, आप (मेरे द्वारा प्रस्तावित) इस कार्य को पूरा करके मेरे हृदय की शोकाग्नि को बुझा दीजिए।'

धृतराष्ट्र इस पर राजी हो जाते हैं और समय देखकर पाण्डवों से कहते हैं (आदि०, १४२।७-१०)--

अधीतानि च शास्त्राणि युष्माभिरिह कृत्स्नशः।

अस्त्राणि च तथा द्रोणाद् गोतमाच्च विशेषत: ।।
इदमेवंगते ताताश्चिन्तयामि समन्तत: ।
रक्षणे व्यवहारे च राज्यस्य सततं हिते ।।
ममैते पुरुषा नित्यं कथयन्ति पुनः पुनः ।
रमणीयतमं लोके नगरं वारणावतम् ।।
ते ताता यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते ।
सगणा: सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथामरा: ।।
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायकेभ्यश्च सर्वश: ।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चस: ।।
कंचित् कालं विहृत्यैवमनुभूय परां मुदम् ।
इदं वै हास्तिनपुरं सुखिन: पुनरेष्यथ ।।

—'बेटो ! तुम लोगों ने सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लिये । आचार्य द्रोण और कृप से अस्त्र-शस्त्रों की भी विशेष रूप से शिक्षा प्राप्त कर ली । प्रिय पाण्डवो ! ऐसी दशा में मैं एक बात सोच रहा हूँ । सब ओर से राज्य की रक्षा, राजकीय व्यवहारों की रक्षा तथा राज्य के निरन्तर हितसाधन में लगे रहनेवाले मेरे ये मंत्री लोग प्रतिदिन बारम्बार कहते हैं कि वारणावत नगर संसार में सबसे अधिक सुन्दर है । पुत्रो ! यदि तुम लोग वारणावत नगर में उत्सव देखने जाना चाहो तो अपने कुटुम्बियों और सेवकवर्ग के साथ वहाँ जाकर देवताओं की भाँति विहार करो । ब्राह्मणों और गायकों को विशेष रूप से रत्न एवं धन दो तथा अत्यन्त तेजस्वी देवताओं के समान कुछ काल तक वहाँ इच्छानुसार विहार करते हुए परम सुख

प्राप्त करो। तत्पश्चात् पुनः सुखपूर्वक इस हस्तिनापुर नगर में ही चले आना।'

धृतराष्ट्र की छलभरी बातें पाण्डवगण न समझ सके हों ऐसी बात नहीं थी। युधिष्ठिर उसका रहस्य ताड़ गये थे, पर अपने को असहाय जानकर उन्होंने धृतराष्ट्र का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वैशम्पायन महाभारत-कथा सुनाते हुए जनमेजय से कहते हैं (आदि०, १४२। ११)——

धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुध्य युधिष्ठिरः।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम्॥

——'हे जनमेजय! युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की उस इच्छा का रहस्य समझ गये, परन्तु अपने को असहाय जानकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी बात मान ली।'

यही नहीं, विदुर को भी इस बात का ज्ञान था कि लाक्षागृह में पाण्डवों को दग्ध कर देने की योजना में धृतराष्ट्र का पूरा हाथ है। जब भीष्मपितामह कुन्ती सहित पाँचों पाण्डवों के जीवित जल जाने के समाचार से शोकाकुल हो गये तो विदुर ने रहस्योद्घाटन करते हुए भीष्म से कहा (आदि०, १४९।१९)——

धृतराष्ट्रस्य शकुने राज्ञो दुर्योधनस्य च।
विनाशे पाण्डुपुत्राणां कृतो मतिविनिश्चयः॥

——'धृतराष्ट्र, शकुनि तथा राजा दुर्योधन का यह पक्का विचार हो गया था कि पाण्डवों को नष्ट कर दिया जाय।'

विदुर आगे कहते हैं, 'तदनन्तर लाक्षागृह में जाने पर

जब दुर्योधन की आज्ञा से पुत्रोंसहित कुन्ती को जला देने की योजना बन गयी, तब मैंने एक भूमि खोदने वाले को बुलाकर भूगर्भ में गुफा सहित सुरंग खुदवायी और कुन्ती सहित पाण्डवों को घर में आग लगने से पहले ही निकाल लिया, अतः आप अपने मन में शोक को स्थान न दीजिए ।'

और ये ही धृतराष्ट्र जो पाण्डवों को नष्ट कर देने पर तुले हुए हैं, जब दूतों से लाक्षागृह में कुन्तीसहित पाण्डवों के जल मरने की खबर सुनते हैं, तो 'विललाप सुदुःखितः' (आदि०, १४९।१०)--अत्यन्त दुःखपूर्वक विलाप करने लगते हैं। कैसा छल है धृतराष्ट्र के जीवन में ! पाण्डवों के प्रति उनके बनावटी प्रेम का आखिर भण्डाफोड़ हो ही जाता है। उनका यह भेदभाव 'मामकाः पाण्डवाश्चैव' इन शब्दों में प्रकट हो जाता है ।

फिर, मनुष्य की स्वार्थान्धता तो देखिये ! धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को नष्ट कर देने में कोई कोर-कसर नहीं रखी, फिर भी जब भीष्मपितामह के आहत होने का समाचार सुनते हैं, तो उनके मन के किसी अज्ञात कोने में युधिष्ठिर की धर्मप्रियता की आड़ ले एक विचार उठता है--'कुरुक्षेत्र तो धर्मक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। क्या युधिष्ठिर का धर्मभाव कुरुक्षेत्र में आकर न जगा होगा ? धर्मभाव के जगने से युधिष्ठिर कभी कौरवों का नाश नहीं करना चाहेगा, क्योंकि आखिर वे सब उसके भाई ही तो हैं ।' इसी कल्पना को दुर्बलता के इस क्षण में पोषित करते

हुए महाराज धृतराष्ट्र संजय से वैसा प्रश्न करते हैं। भीष्म के पतन से कौरवों के दुर्बल पड़ जाने का लक्षण स्पष्ट हो गया है। धृतराष्ट्र के हृदय में घबराहट छा गयी है। जीवनभर पाण्डवों से अन्याय करते हुए वे अब उनसे अपने प्रति न्यायोचित व्यवहार की आशा रखते हैं। तभी तो कुरुक्षेत्र को वे धर्मक्षेत्र के नाम से पुकारते हैं।

कुरुक्षेत्र का मैदान अभी भी विद्यमान है। कुरुक्षेत्र नामक नगर ही आज-कल बस गया है और वहाँ जो मन्दिर बना हुआ है, उसके सम्बन्ध में ऐसी मान्यता है कि वहीं पर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता सुनायी थी। पर इस बात में कहाँ तक सत्यता है, यह विचारणीय है। इतना कहा जा सकता है कि हस्तिनापुर के चारों ओर जो मैदान था, उसी को कुरुक्षेत्र के नाम से पुकारा जाता था। आज की दिल्ली इसी मैदान पर बसी है और जो दिल्ली का चिड़ियाघर है, उसे हस्तिनापुर के किले के भाग में अवस्थित माना जाता है। प्राचीन, मध्य और अर्वाचीन युगों की कई बड़ी बड़ी लड़ाईयाँ इस मैदान पर लड़ी गयी हैं। इसे पुराने जमाने में समन्त-पंचकतीर्थ के नाम से भी पुकारा जाता था। महाभारत में कुरुक्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में वर्णन आता है कि 'तुरन्तुक, अरन्तुक, रामह्रद (परशुराम कुण्ड) तथा मचक्रुक के बीच का जो भूभाग है, वही समन्तपंचक एवं कुरुक्षेत्र है।' उसे 'प्रजापति की उत्तरवेदी' भी कहते हैं। (शल्यपर्व, ५३।२४)।

इसका नाम कुरुक्षेत्र क्यों पड़ा ? इस सम्बन्ध में एक आख्यायिका हमें महाभारत में प्राप्त होती है कि पहले अमित तेजस्वी बुद्धिमान् राजर्षिप्रवर महात्मा कुरु ने इस क्षेत्र को बहुत वर्षों तक जोता था, इसलिए यह कुरुक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया। प्रश्न उठता है कि महाराज कुरु ने स्वयं अपने हाथों से इस क्षेत्र को क्यों जोता होगा ? इस प्रश्न का जो उत्तर प्राप्त होता है, वही उस प्रश्न का भी उत्तर है कि कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र क्यों कहते हैं ?

कहते हैं कि पूर्वकाल में जब महाराज कुरु नित्य की भाँति इस क्षेत्र को जोत रहे थे, तो इन्द्र ने स्वर्ग से आकर इसका कारण पूछा, 'राजन ! इस महान् उद्योग का क्या कारण है ? आप किस अभिलाषा से यह भूमि जोत रहे हैं ?' कुरु ने उत्तर दिया, 'शतक्रतो ! जो मनुष्य इस क्षेत्र में मरेंगे, वे पुण्यात्माओं के पापरहित लोकों में जायेंगे।' इस पर इन्द्र ने उनका उपहास किया, पर राजर्षि कुरु उस कार्य से उदासीन न होकर वहाँ की भूमि जोतते ही रहे। देवराज इन्द्र बार बार अपने कार्य से विरत न होने वाले कुरु के पास आते और उनसे पूछ-पूछकर प्रत्येक बार उनकी हँसी उड़ाकर स्वर्गलोक में चले जाते। पर जब इन्द्र ने देखा कि राजा कुरु अपने प्रयत्न में शिथिलता लाने के बदले और भी कठोर तपस्या-पूर्वक पृथ्वी को जोतते ही जा रहे हैं, तो उन्होंने यह बात देवताओं से कही। देवताओं ने इन्द्र से कहा, 'शक्र!

यदि सम्भव हो तो राजर्षि कुरु को वर देकर अपने अनुकूल किया जाय। यदि कुरु की तपस्या सफल हुई तो इस क्षेत्र में मरने वाले मनुष्य यज्ञों द्वारा हम देवताओं का पूजन किये बिना ही स्वर्गलोक में चले जायेंगे, तब तो हम लोग बड़ी आफत में पड़ेंगे; हम लोगों का यज्ञ-भाग सर्वथा नष्ट हो जायगा।'

देवताओं से सलाह कर इन्द्र राजर्षि कुरु के पास आये और उनसे कहा, 'नरेश्वर! आप व्यर्थ कष्ट क्यों उठाते हैं? मेरी बात मान लीजिए। महामते! जो मनुष्य और पशु-पक्षी यहाँ तपस्या करते हुए और निराहार रहकर देह-त्याग करेंगे अथवा युद्ध में मारे जायेंगे, वे स्वर्गलोक के भागी होंगे।' जब राजा ने उनकी यह बात स्वीकार कर ली तो इन्द्र प्रसन्न चित्त से स्वर्ग लौट गये।

इसीलिए कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा गया है। महाभारत में आता है कि 'यहाँ पर प्राचीन काल में महान् वरदायक देवताओं ने बहुत बड़े यज्ञ का अनुष्ठान किया था।... भूतल का कोई भी स्थान इससे बढ़कर पुण्यदायक नहीं होगा। जो मनुष्य यहाँ रहकर बड़ी भारी तपस्या करेंगे, वे सब लोग देहत्याग के पश्चात् ब्रह्मलोक में जायेंगे। जो पुण्यात्मा वहाँ दान देंगे, उनका वह दान शीघ्र ही सहस्रगुना हो जायगा। जो मानव शुभ की इच्छा रखकर यहाँ नित्य निवास करेंगे, उन्हें कभी यम का राज्य नहीं देखना पड़ेगा।... यह महान् पुण्यप्रद, कल्याणकारी, देवताओं का प्रिय एवं सर्वगुणसम्पन्न तीर्थ है। अतः यहाँ

रणभूमि में मारे गये सम्पूर्ण नरेश सदा पुण्यमयी अक्षय गति प्राप्त करेंगे ।'

जाबाल श्रुति में कुरुक्षेत्र को समस्त जीवों को ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला कहा है। शतपथ श्रुति इसे 'देवताओं की यज्ञभूमि' कहती है ।

कुरुक्षेत्र के ऐसे धर्मक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठा हो कौरवों और पाण्डवों ने क्या किया यह धृतराष्ट्र का प्रश्न है । वे जानना चाहते हैं कि युद्ध का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ । हम ऊपर कह चुके हैं कि संजय राजा धृतराष्ट्र के विश्वासपात्र अमात्य हैं । यद्यपि संजय कौरवों के साथ हैं और उनका भला चाहते हैं, तथापि वे मानते हैं कि पाण्डवों का पक्ष ही धर्म का पक्ष है और वे घोषणा करते हैं कि जीत धर्म की ही होगी । वे धृतराष्ट्र को समय समय पर उचित सलाह देते हैं, पर यह कौरवों का दुर्भाग्य है कि धृतराष्ट्र उस सलाह पर चल नहीं पाते । संजय को गवल्गण नामक सूत का पुत्र बतलाया गया है और उन्हें मुनियों के समान ज्ञानी और धर्मात्मा माना गया है । इसी बात से उनकी महत्ता का बोध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने जिस विभूतिमय रूप को अर्जुन के सिवा और किसी से देखा जाना सम्भव नहीं मानते, उस अपूर्व रूप के द्रष्टा संजय भी हैं । श्रीकृष्ण गीता के ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन से कहते हैं (४८,५३)—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

—'हे कुरुप्रवीर ! न तो वेदों के अध्ययन से, न यज्ञ से, न दान से, न क्रिया-अनुष्ठानों से, न कठोर तप से मेरा ऐसा रूप इस मनुष्यलोक में तेरे सिवा अन्य किसी के द्वारा देखा जाना सम्भव है । न तो वेदों के बल पर, न तपस्या और न दान या यज्ञ के ही बल पर कोई मुझे उस प्रकार देख सकता है, जैसा तूने मुझे देखा है ।

तब प्रश्न उठता है कि एकमात्र अर्जुन ने ही कैसे भगवान् के उस रूप को देखा ? अर्जुन की क्या पात्रता थी ? श्रीभगवान् स्वयं इसका उत्तर देते हैं (११।५४)—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

—'किन्तु हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्ति के द्वारा मेरे इस चतुर्भुज रूप को प्रत्यक्ष देखना, तत्त्व से जानना और उसमें प्रवेश करना अर्थात् उसमें एकीभाव से प्राप्त हो जाना शक्य है ।'

अर्जुन के समान संजय भी श्रीभगवान् के विश्वरूप और चतुर्भुजरूप दोनों को देखने में समर्थ हुए थे । जिसे भगवान् ने केवल अर्जुन के लिए शक्य माना, वह संजय के लिए भी शक्य हुआ था । इसका तात्पर्य यही है कि संजय भी श्रीभगवान के अनन्य भक्तों में से थे । अथवा,

यदि यह कहें कि संजय में भी अर्जुन के ही समान भगवान् के उन अलभ्य रूपों को देखने की पात्रता थी, तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

धृतराष्ट्र के उस प्रकार प्रश्न करनें पर– सजय उवाच —

दृष्टवा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

(सजयः) संजय (उवाच) बोले—

(तदा तु) किन्तु तब (पाण्डवानीकं) पाण्डवों की सेना को (व्यूढं) व्यूहबद्ध (दृष्ट्वा) देखकर (राजा दुर्योधनः) राजा दुर्योधन (आचार्यम्) आचार्य के (उपसंगम्य) पास जाकर (वचनम्) वचन (अब्रवीत्) बोला।

संजय बोले, "किन्तु तब पाण्डवों की सेना को व्यूहबद्ध देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जा ऐसे वचन बोला"—।

यहाँ 'तु' शब्द से दुर्योधन के मन में भय का उदय सूचित होता है। संजय का भाव यह है कि कौरवों की विशाल सेना को देखकर पाण्डवों के मन में किसी प्रकार की हलचल नहीं हुई, पर दुर्योधन पाण्डवों का सैन्य देख विचलित हो जाता है। पाण्डवों की सेना व्यूह में खड़ी थी, इससे सूचित होता है कि पाण्डवों की ओर भी व्यूहरचना के जानकार धुरन्धर योद्धा हैं। महाभारत के भीष्मपर्व में (१९।३-१०) हमें प्राप्त होता है कि कौरवों की सेना को व्यूहाकार खड़ी देख युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा, "तात! महर्षि बृहस्पति के वचन से ऐसा ज्ञात होता है कि यदि शत्रुओं की सेना थोड़ी हो, तो अपनी सेना को छोटे आकार में संगठित करके युद्ध करना

चाहिए और यदि अपने से अधिक सैनिकों के साथ युद्ध करना हो, तो अपनी सेना को इच्छानुसार फैलाकर खड़ी करे। थोड़े से सैनिकों से बहुतों के साथ युद्ध करने के लिए 'सूचीमुख' नामक व्यूह उपयोगी हो सकता है।" युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर अर्जुन ने अपनी सेना को दुर्जय 'वज्रव्यूह' में खड़ा किया था। तो, दुर्योधन के भय का अधिक कारण पाण्डवों की सेना की व्यूहबद्धता ही है। दुर्योधन के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका तात्पर्य यह दिखता है कि वह राजा की ही हैसियत से द्रोणाचार्य के पास गया। उसमें पूरी तरह राजापन का अभिमान भरा हुआ है। जब वह राजा है, तो आचार्य को अपने पास बुलवा भी सकता है। पर वह राजा होकर भी स्वयं आचार्य द्रोण के पास जाता है, इससे उसकी राजनीतिक कुशलता लक्षित होती है। वैसे, कौरवों के सेनापति तो भीष्मपितामह हैं, अतः उचित यह था कि दुर्योधन पहले उन्हीं के पास जाता। पर आचार्य द्रोण के पास पहले जाकर वह उनके प्रति अपना आदर 'दिखाना' चाहता है और यह ध्वनित करना चाहता है कि आप ही हमारे लिए अधिक महत्त्व के हैं। दुर्योधन के मन में भीष्मपितामह के लिए अधिक शंका नहीं थी। वह जानता था कि उनके लिए कौरव और पाण्डव दोनों समान हैं, इसलिए एक बार जब वह युद्ध में कौरवों के सेनापति बनने को तैयार हो गये हैं, तो किसी प्रकार से धोखा नहीं देंगे। पर दुर्योधन द्रोणाचार्य

के सम्बन्ध में उतना आश्वस्त नहीं है, क्योंकि वह जानता है कि आचार्य द्रोण अर्जुन को सबसे अधिक स्नेह करते हैं। अतएव उसके मन के किसी कोने में यह अज्ञात शंका भरी हुई है कि द्रोणाचार्य कहीं पाण्डवों की तरफ न चले जायँ। उसकी यह आशंका कई बार परिलक्षित हो जाती है। जब वह महाराज धृतराष्ट्र को पाण्डवों को वारणावत भेज देने की सलाह दे रहा था, तो कहता है (आदि०, १४१।२०)--

मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः।।

--'पिताजी! भीष्म तो सदा ही मध्यस्थ हैं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मेरे पक्ष में हैं, द्रोणाचार्य भी उधर ही रहेंगे, जिधर उनका पुत्र होगा--इसमें तनिक भी संशय नहीं है।'

दुर्योधन के इस कथन से उसका संशय ही स्पष्ट हो रहा है। एक ओर वह कहता तो है कि द्रोणाचार्य भी मेरी तरफ ही रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं है, पर भीतर ही भीतर वह खूब समझता है कि आचार्य द्रोण का अधिक स्नेह पाण्डवों के प्रति है। दुर्योधन यह भी जानता है कि यदि वह अश्वत्थामा को अपने वश में कर ले तो बरबस द्रोणाचार्य उसी का पक्ष लेंगे, क्योंकि अपने प्यारे पुत्र का विरोध तो वे करेंगे नहीं। इसीलिए दुर्योधन तरह तरह से अश्वत्थामा का सत्कार कर उसे अपने पक्ष में कर लेता है। यही उसकी राजनीतिक चतुरता है।

वह आचार्य द्रोण के पास जाकर 'बचन बोला'।

'बोला' कहने से ही अभिप्राय ध्वनित हो जाता, तब 'वचन बोला' ऐसा कहना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। जब बोला जाता है तो वचन ही बोला जाता है। अतएव 'वचन' शब्द का विशेष रूप से प्रयोग करने का तात्पर्य यह दिखायी देता है कि दुर्योधन के पास वस्तुतः आचार्य द्रोण से बोलने को कुछ नहीं था, वह यों ही कहने के लिए कुछ कहता है। आचार्य द्रोण के पास उसका सबसे पहले जाना, जैसा हमने कहा, एक राजनीतिक चाल है। जब द्रोण के पास जा ही रहा है, तो उनसे कुछ बोलना भी होगा; पर उसके पास कोई खास बात कहने के लायक नहीं है, इसीलिए कहा गया कि वह आचार्य के पास जाकर ऐसे वचन बोला। वह क्या बोला इसकी चर्चा हम अपने अगले प्रवचन में करेंगे।

(क्रमशः)

■

मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना उसकी दुर्बलता का प्रतिकार नहीं है--बल्कि उसे अपने बल का स्मरण करा देना ही उसके प्रतिकार का उपाय है। उनमें जो बल पहले से ही विद्यमान है उसका उन्हें स्मरण कराओ।

--स्वामी विवेकानन्द

सन्त तुकाराम

प्रा. रामेश्वर नन्द

मुगलों के धर्मोन्मत्त शासनकाल में महाराष्ट्र में जिन सन्तों एवं महात्माओं ने हिन्दुत्व के उत्थान का प्रयास किया था, उनमें सन्त तुकाराम का स्थान उल्लेखनीय है। छत्रपति शिवाजी ने जहाँ महाराष्ट्र को पराधीनता से मुक्त किया, वहाँ समर्थ रामदास ने धर्म और राजनीति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया। इसके साथ ही धार्मिक नवोत्थान का शुभारम्भ भी हो गया था। सन्त ज्ञानेश्वर ने जिस ज्ञानमूला भक्ति की स्थापना की थी तथा जिसे सन्त नामदेव और एकनाथ ने आगे बढ़ाया था, उसी भक्ति को सन्त तुकाराम पराकाष्ठा पर पहुँचा देते हैं।

सन्त तुकाराम का जन्म १६०८ ईस्वी के माघ मास की शुक्ल पंचमी के दिन देहू नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता बाल्होबा और माता कनकाई भगवान् विट्ठल के बड़े भक्त थे। दाम्पत्य जीवन के इक्कीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए यह भक्त-दम्पति निरन्तर विठोबा से सन्तान की प्रार्थना करता रहता था। कालान्तर में उन्हें एक पुत्र की प्राप्ति हुई तथा उन्होंने इसका नाम सावजी रखा। सावजी आगे चलकर संन्यासी हो गये थे। इसके बाद उनका दूसरा पुत्र भी हुआ, जो सन्त तुकाराम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। एक जनश्रुति के अनुसार सन्त नामदेव विट्ठल

के लिए एक कोटि अभंग की रचना करना चाहते थे, पर उनके जीवन में यह अभिलाषा पूरी नहीं हुई। अतः उन्होंने अपनी इच्छा को पूरा करने के लिये सन्त तुकाराम के रूप में जन्म-ग्रहण किया।

तुकाराम शूद्र-परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता महाजनी और दुकानदारी का कार्य करते थे। तुकाराम का बाल्य-जीवन बड़े सुख से बीता और सत्रह वर्ष की आयु तक वे सांसारिक दुःखों को जान ही नहीं पाये। पिता के साथ रहकर उन्होंने पढ़ना-लिखना और हिसाब करना सीख लिया था। भक्त-परिवार में जन्म ग्रहण करने के कारण उन्हें बाल्यकाल से ही नामदेव तथा अन्य सन्तों के अभंग सुनने को मिले थे। जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ती गयी, वे भक्त-कवियों की रचनाओं को अधिकाधिक पढ़ने लगे। इस सम्बन्ध में डा० हरि रामचन्द्र दिवेकर ने लिखा है, "कबीर के सिवाय तुलसीदास, सूरदास और मीराबाई के भी कवित्व की कुछ छाया उनके (सन्त तुकाराम के) अभंगों में दीखती है। ... तुकाराम जी के समय पूना प्रान्त पर बहुत समय तक मुसलमानों का शासन रहा, जिसके कारण वे हिन्दुस्तानी भाषा से परिचित थे। ... कई संस्कृत ग्रन्थों की भी प्रतिध्वनि आपकी कविता में सुनायी देती है। ज्ञानेश्वरी के साथ गीता का तो उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। भागवत भी आपने स्वयं मूलरूप में पढ़ा था। योगवासिष्ठ और शंकराचार्य जी के षट्पदी ग्रन्थ का भी राग कहीं-कहीं

उनके अभंगों में सुनायी देता है। . . .परन्तु आपका खास अध्ययन मराठी सन्त कवियों का था। ज्ञानेश्वर का 'अमृतानुभव' और 'ज्ञानेश्वरी' तथा एकनाथ की 'भावार्थ रामायण' और 'भागवत' के आपने कई पारायण किये थे और उनके अर्थ को आत्मसात् कर लिया था। नामदेव के तो कई अभंग माता कनकाई के मुख से सुनकर इन्हें बचपन से ही याद थे और कीर्तन-भजन के लिये सबसे पहले आपने इन्हीं अभंगों को याद किया। नामदेव के प्रायः जिन जिन विषयों पर अभंग पाये जाते हैं, उन विषयों पर तुकाराम महाराज के भी अभंग हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि तुकाराम का आध्यात्मिक विकास महाराष्ट्र के सन्तों की परम्परा में हुआ।

तुकाराम का परिवार सभी दृष्टियों से सुखी था। माता-पिता और बड़े भाई इनसे बहुत स्नेह करते थे। महाजनी एवं दुकानदारी के कारण गाँव में उनके परिवार की अच्छी प्रतिष्ठा थी। तुकाराम किशोर वय प्राप्त होने पर अपने पिता के काम में हाथ बँटाने लगे। सोलह वर्ष की अवस्था में इनका ब्याह रखुमाई से कर दिया गया। पर जब कुछ दिनों के बाद यह पता चला कि रखुमाई श्वास रोग से पीड़ित है, तब पूना के एक सम्पन्न साहूकार की पुत्री जिजाई से इनका दूसरा विवाह कर दिया गया। ब्याह के बाद दो वर्ष बड़े सुख से बीते तथा रखुमाई ने एक पुत्र भी उत्पन्न किया। किन्तु इसके बाद

ही तुकाराम के पिता का देहावसान हो गया और उनकी भावज भी परलोक सिधार गयीं। तुकाराम के बड़े भाई सावजी विरक्त स्वभाव के थे ही। इस घटना का इतना गहरा प्रभाव उनपर पड़ा कि वे घर-बार छोड़कर तीर्थ-यात्रा पर निकल गये और फिर वापस नहीं लौटे। इस समय सावजी की आयु केवल बीस वर्ष थी।

अब परिवार का पूरा भार तुकाराम के कन्धों पर आ पड़ा। उन्होंने अपने छोटे भाई कान्होबा का ब्याह रचाया और अपनी माता को तीर्थयात्रा कराने के लिये निकल पड़े। छोटे भाई की शादी में बहुत खर्च हो गया था तथा तीर्थयात्रा में भी बहुत समय और धन लग गया। जब वे वापस लौटे तब उनका कारोबार चौपट हो गया था। इसलिए उनका दिवाला निकल गया। पर तुकाराम निराश नहीं हुए और उन्होंने अनाज की दुकान खोल ली। पर विपत्तियाँ अभी खतम नहीं हुई थीं। कुछ दिनों के बाद एक भयंकर अकाल पड़ा। यह सन् १६३० का अकाल था जिसके सम्बन्ध में श्री दिवेकर ने लिखा है कि "अकाल इस हद तक पहुँचा कि आदमी आदमी को खाने लगे। पुत्र-प्रेम छोड़कर अपने बच्चों को खाने में भी लोगों ने कमी न की। जिधर देखें उधर लाशों का ढेर नजर आने लगा।"

इस दुर्भिक्ष में तुकाराम पर भी बड़ा संकट आया। उनकी पत्नी रखुमाई भूख से मर गयी। उनका पुत्र सन्तोजी निरन्तर उनसे चिपटा रहता और 'माँ' 'माँ'

कहकर रोता रहता। कुछ दिनों बाद वह भी चल बसा और इसके बाद ही उनकी माता का भी देहावसान हो गया। एक ही साल में तुकाराम के तीन प्रियजन चले गये। उनकी दूसरी पत्नी जिजाई ही बाकी रही। वह बड़ी कर्कशा थी तथा उसकी वाणी तुकाराम के जले हृदय पर नमक का काम करती थी। संसार की असारता और मनुष्य की विवशता को तुकाराम स्पष्ट रूप से जान गये थे और उनका मन अब ईश्वर की ओर मुड़ गया। वे कहने लगे--

लोभी के चित धन बैठे, कामिनि के चित काम।
माता के चित पूत बैठे, तुका के चित राम।।

अब तुकाराम का चित्त संसार में नहीं लगता था। पत्नी के शब्द उन्हें सूली के समान बेधते रहते थे। संसारियों से उन्हें पग-पग पर अपमान मिलता था। यद्यपि उन्होंने छोटा-मोटा काम करने की कोशिश की, पर अपने सरल स्वभाव के कारण वे दूसरों से ठगा जाते थे। निदान उन्होंने अपने छोटे भाई को दुकान सौंप दी और वे स्वयं दूसरों का सामान पहुँचाने का काम करने लगे। पर इस काम में भी उन्हें सफलता नहीं मिली। रास्ते में वे भगवान् के अभंगों के गायन में इतनें मग्न हो जाते कि लोग उन्हें ठग लिया करते थे। बाद में तुकाराम ने अपनी इन विपदाओं के सम्बन्ध में कहा, "हे विट्ठल देव! बहुत अच्छा हुआ कि दिवाला निकल गया। बहुत अच्छा हुआ कि दुर्भिक्ष के कारण इतना

कष्ट हुआ। बड़ा भला हुआ कि स्त्री कर्कश स्वभाव की मिली। बड़ा अच्छा हुआ कि संसार में अपमान मिला। अच्छा हुआ कि द्रव्य-पशु सबका नाश हुआ। ठीक हुआ कि लोकलाज की परवाह न की और तेरी शरण में आया। इन सब दुःखों के कारण जो पश्चात्ताप हुआ, उसीसे तेरा चिन्तन एक-सा करता रहा और उसीके कारण यह संसार थूक-सा जान पड़ा।"

संसार से चित्त हटाकर अब तुकाराम पूरी तरह से अपने विट्ठल में खो गये। उनके हृदय में विट्ठल के दर्शन की तड़प जाग गयी थी। लोगों के अपमान को और अपनी पत्नी के वाग्बाणों को वे चुपचाप सह लिया करते। एक दिन वे घर से निकल पड़े और इन्द्रायणी नदी से आठ मील दूर भामनाथ पर्वत पर विट्ठल के ध्यान में लीन हो गये। इधर उनकी पत्नी जिजाई उन्हें घर में न पाकर बहुत दुखी हुई। यद्यपि वह कर्कशा थी तथापि मन से वह बड़ी पतिव्रता थी। उसने तुकाराम की खोज में सभी ओर आदमी भेजे। आखिरकार तुकाराम मिल गये पर वे पूरी तरह से बदल गये थे। विट्ठल के प्रेम ने उनमें आमूल परिवर्तन कर दिया था। यद्यपि वे घर लौट आये पर अब उनसे संसार का कोई काम नहीं होता था। उनका सारा समय भगवान के भजन में कटने लगा।

अभी भी तुकाराम के ऋणी अनेक लोग थे। उनके पास ऋण के कागजात भी सुरक्षित थे। जब जिजाई

उन्हें ऋण-वसूली के लिए भेजती तब वे देखते कि कर्जदार या तो उनसे मुँह छिपा रहे हैं या झूठ बोल रहे हैं। उन्हे लगा कि कर्जदारों से ऋण वापस लेना एक बुरा काम है। उन्होंने ऋण के सारे कागजात इन्द्रायणी नदी में डुबोने का निश्चय किया। जब छोटे भाई को यह पता चला तब उसने आपत्ति की। निदान तुकाराम ने ऋण की रकम के कागजात के दो हिस्से किये। एक हिस्सा तो उन्होंने अपने छोटे भाई को दे दिया और दूसरा हिस्सा उन्होंने नदी में डुबो दिया। इस घटना के बाद तुकाराम के मन से धन का मोह पूर्णतया नष्ट हो गया।

तुकाराम की सुकीर्ति फैल गयी थी और उनपर श्रद्धा करनेवाले लोग भी बढ़ रहे थे। अब उन्होंने निरन्तर विट्ठल की सेवा में निमग्न रहने का संकल्प किया और देहू के प्राचीन विट्ठल मन्दिर का जीर्णोद्धार किया। मन्दिर अब-तब गिरने की हालत में था। तुकाराम ने स्वयं मिट्टी इकट्ठी की और गारा बनाया और मन्दिर की मरम्मत में लग गये। उन्होंने मन्दिर के अहाते को साफ किया और नयी दीवारें उठायीं। अब यह मन्दिर तुकाराम के साधन-भजन का स्थान बन गया। वे एकाग्र चित्त से विट्ठल के ध्यान में लग गये। पर अभी तक उन्हें विट्ठल के दर्शन नहीं हुए थे। उन्हें लगा कि सम्भवतः गुरु मंत्र न लेने के कारण ही उन्हें ईश्वर का दर्शन नहीं मिला है।

उन्होंने विट्ठल से ही इस कृपा की प्रार्थना की। एक दिन उन्होंने स्वप्न मे देखा कि वे इन्द्रायणी में स्नान करने जा रहे हैं। राह में उन्हें एक सत्पुरुष मिला। तुकाराम उनके चरणों पर गिर पड़े। उस सत्पुरुष ने उन्हें उठा लिया और बड़े प्रेम से उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा, "कुछ चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारा भाव पहचान गया हूँ।" यह कहकर उन्होंने उनके सिर पर हाथ फेरा और उनके कानों में 'रामकृष्ण हरि' का मंत्र प्रदान किया। उन्होंने अपना नाम 'बाबाजी' बताया और कहा कि वे राघव चैतन्य और केशव चैतन्य की परम्परा के हैं। तुकाराम आनन्द से भर उठे। उनकी नींद खुल गयी। उन्होंने देखा कि उनके ओंठों से 'रामकृष्ण हरि' उच्चरित हो रहा है। उन्हें विश्वास हो गया कि उन्हें गुरु की प्राप्ति हो गयी है तथा अब उन्हें भगवान् के दर्शन अवश्य होंगे। उनके हृदय में दैवी विरह का संचार हो गया। वे निरन्तर ईश्वर के दर्शन के लिये व्याकुल रहने लगे। वे साधु सन्तों से भेंट होने पर पूछते, "क्या मेरा उद्धार होगा? क्या नारायण मुझपर कृपा करेंगे? क्या मेरा ऐसा भाग्य है कि मैं भगवान् के चरण पकड़ पाऊँगा? क्या वे मेरी पीठ पर अपने हाथ फेरेंगे?" इस प्रकार कहते-कहते तुकाराम रो पड़ते। एक बार उन्होंने फिर स्वप्न में देखा कि साक्षात् विट्ठल और नामदेव खड़े हैं। नामदेव ने उनसे कहा, "आज से

व्यर्थ बात न बोलो। अभंग रचने लगो। मेरा शतकोटि अभंग रचने का प्रण पूरा नहीं हो पाया। उसे तुम पूरा करो। डर की बात नही है...., स्वयं विट्ठल तुम्हारी कविता की सम्हाल करेंगे।" हर्षोत्फुल्ल तुकाराम ने दोनों के चरण गहे। श्री विट्ठल ने उनकी पीठ पर हाथ फेरा और फिर वे अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार तुकाराम की चिर अभिलाषा पूर्ण हो गयी।

ईश्वरीय कृपाप्राप्त तुकाराम का नाम द्रुतगति से चारों ओर फैलने लगा, पर कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो उनकी सुख्याति को देखकर जला करते। एक कन्नड़ ब्राह्मण पण्डित रामेश्वर भट्ट तुकाराम के नाम-यश को नहीं सह सका। रामेश्वर भट्ट यद्यपि विद्वान था तथा भगवान् राम का उपासक था, पर वह कोरा ज्ञानी था। तुकाराम से जलकर उसने गाँव के मुखिया से कहा कि तुकाराम पाखण्डी है और लोगों को वैदिक धर्म से पथभ्रष्ट कर रहा है। रामेश्वर भट्ट की बात मानकर गाँव के पंचों ने उन्हें गाँव से निकल जाने के लिये कहा। तुकाराम के लिये अपने विट्ठल से अलग होना प्राण त्यागने के समान दुखदायी था। जब उन्हें पता चला की रामेश्वर भट्ट के कहने पर उन्हें गाँव से निकाला जा रहा है तब वे उसके पास गये और क्षमा माँगते हुए अभंगों का गायन करने लगे। रामेश्वर भट्ट उनके अभंगों को सुनकर आश्चर्यचकित हो गया, क्योंकि

उन अभंगों से श्रुतियों का अर्थ निकलता था। अतएव उसने आपत्ति करते हुए कहा, "तुम शूद्र हो। तुम्हारे अभंगों में श्रुतियों का अर्थ आता है, पर तुम्हें श्रुतियों के अर्थ का अधिकार नहीं है।" विनम्र तुकाराम ने उत्तर दिया, "मैंने तो विट्ठल की आज्ञा से अभंगों को रचा है पर आप ब्राह्मण भी वन्द्य हैं। अतएव अब आगे अभंग नहीं रचूँगा। पर जो अभंग रचे जा चुके हैं उनका क्या करूँ?" भट्ट ने कहा, "अगर तुम उन्हें नदी में डुबो दो तो मैं तुम्हारे लिये गाँव छोड़ने के आदेश को वापस करवाने का प्रयास कर सकता हूँ।" तुकाराम अपने विट्ठल से विलग नहीं रह सकते थे। उन्होंने अपने सारे अभंगों को नदी में फेंक दिया।

पर इस घटना से तुकाराम के मन में बड़ी ठेस पहुँची। उन्होंने नदी के किनारे ही अपना प्राण त्याग देने का विचार किया। वे तेरह दिनों तक एक पत्थर पर पड़े रहे और विट्ठल से प्रार्थना करते रहे। विट्ठल का भजन न कर पाना उनके लिये बहुत बड़ा दण्ड था पर विट्ठल से अलग हो जाना तो उससे भी बड़ी सजा थी। उनका शरीर क्षीण हो चला था, पर उनके मुख से निरन्तर 'रामकृष्ण हरि' का उच्चारण हो रहा था। लोगों ने सोच लिया कि अब तुकाराम का अन्तिम समय आ पहुँचा है। पर तेरहवें दिन तुकाराम को विट्ठल के साक्षात् दर्शन हुए इसके साथ ही तुकाराम के भक्तों को भी स्वप्न दिखा कि उनके अभंगों का बस्ता नदी में सुरक्षित तैर

रहा है। वे लोग जागते ही नदी के किनारे आये। उन्होंने देखा कि सचमुच तुकाराम के अभंगों की पोटली नदी में तैर रही है और तुकाराम निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। लोगों ने तुकाराम को जगाते हुए कहा, "महाराज! उठिये, आपकी भक्ति से प्रसन्न होकर परमात्मा ने आपके अभंग पानी में भी बचा दिये हैं। उठिये, देखिये।" तुकाराम के आनन्द की कल्पना नहीं की जा सकती। उन्हें अपने भीतर तो विट्ठल का साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ ही, साथ ही बाहर प्रभु की यह महिमा देखने को मिली। इसके कुछ दिनों बाद ही रामेश्वर भट्ट के सारे शरीर में भयंकर दाह उत्पन्न हो गया। वह जलन से तड़पने लगा। उसे सपने में ज्ञानेश्वर के दर्शन हुए। उन्होंने उसे बताया कि तुकाराम से क्षमा माँगने पर ही उसका गात्रदाह समाप्त हो सकता है। नींद टूटते ही रामेश्वर भट्ट ने तुकाराम के पास पत्र भेजा और उनसे क्षमा-याचना की। उसके पत्र के उत्तर में तुकाराम ने एक अभंग लिख भेजा जिसका अर्थ था, "अगर चित्त शुद्ध हो तो शत्रु भी मित्र बन जाता है। उसे बाघ या साँप नहीं खा सकता। उसके लिये विष भी अमृत बन जाता है।" इस अभंग को पढ़ते ही रामेश्वर भट्ट का गात्र-दाह शान्त हो हो गया और वह तुकाराम का भक्त बन गया।

सन्त तुकाराम के मन में क्रोध की छाया तक नहीं थी। एक बार उन्हें शिवजी नामक एक कंजूस साहूकार ने भोजन का निमंत्रण दिया। साहूकार की पत्नी तुकाराम

से बहुत चिढ़ती थी। उसने उन्हें नहलाने के बहाने उनपर उबलता पानी डाल दिया। तुकाराम इसे अपने क्रोध की परीक्षा समझकर सह गये। कुछ दिनों बाद ही उस स्त्री को कुष्ठ रोग हो गया। रामेश्वर भट्ट की सलाह पर उसने जब अपनी देह पर उस स्थान की मिट्टी लगायी जहाँ पर उसने सन्त तुकाराम पर उबलता पानी डाला था, तो उसका कोढ़ जाता रहा।

इसीप्रकार की एक और घटना सन्त तुकाराम के जीवन में घटी थी। उनका एक पड़ोसी मंबाजी उनसे बहुत जलता था। एक बार तुकाराम की भैंस उसके बगीचे के काँटों की चौहद्दी तोड़कर भीतर घुस गयी और उसे तहस-नहस कर डाला। काँटें रास्ते में बिखर गये। यह देखकर तुकाराम को बड़ा दुःख हुआ। वह एकादशी का दिन था। रात को भक्तगण कीर्तन के लिये आनेवाले थे। सन्त तुकाराम रास्ते पर पड़े काँटों को उठाने लगे। मंबाजी को बहाना मिल गया। उसने काँटे की एक छड़ उठायी और गालियाँ देते हुए तुकाराम की नंगी पीठ को मारने लगा। मार खाकर तुकाराम उठे और विट्ठल के मन्दिर में जाकर गाने लगे, "हे विठोबा! चाहे जैसी विपदा प्राणों पर आये, पर मैं तुम्हारे चरणों को नहीं छोड़ूंगा। इस देह को कोई शस्त्र से सौ-सौ टुकड़े क्यों न कर डाले, पर मैं भयभीत नहीं होऊँगा; क्योंकि इस तुकाराम ने अपनी बुद्धि को पहले से ही सावधान कर रखा है। हे विठोबा! अच्छा किया कि

मेरी क्षमाशीलता की सीमा देखने के लिए मुझे काँटों से मरवाया। गालियों की तो कोई सीमा ही नहीं रही। कई प्रकार से मेरी फजीहत हुई पर यह भी अच्छा हुआ कि मुझे आपने क्रोध के हाथों से छुड़ा लिया।" इतना ही नहीं, उन्होंने मंबाजी से क्षमा भी माँगी।

सन्त तुकाराम के जीवन में कुछ चमत्कार भी घटित हुए थे। लोहागाँव के पटेल अंबाजी पन्त सन्त तुकाराम के बड़े भक्त थे तथा वे नित्यप्रति उनका कीर्तन सुनने आया करते। एक बार उनका पुत्र बहुत बीमार हो गया और अब-तब की बेला आ पहुँची। अंबाजी नियमानुसार ऐसे समय में भी तुकाराम का कीर्तन सुनने के लिए घर से निकले। लोगों ने उन्हें बहुत रोका, पर वे नहीं माने। उनके जाने के बाद उनका पुत्र चल बसा। अंबाजी की पत्नी क्रोध और शोक से भरकर अपने पुत्र के शव को लेकर सन्त तुकाराम के पास पहुँची और उसे उनके पैरों पर डाल दिया। तुकोबा ने शव की ओर देखा और तन्मय होकर गाने लगे, "हे नारायण! आपके लिये अचेतन को सचेतन करना असम्भव नहीं है। आपने जैसी सामर्थ्य पुराण काल में दिखायी थी वैसी ही आज प्रदर्शित करें तो क्या हर्ज है...।" सारी मण्डली 'विट्ठल' के जप में खो गयी और मरा बच्चा जी उठा।

दूसरी घटना शिवाजी को लेकर है। एक बार शिवाजी तुकाराम का कीर्तन सुनने आये। मुगलों को इस बात का पता चल गया और शिवाजी घेर लिये गये। तुकाराम

ने यह देखकर कहा, 'भगवान् रक्षा करेंगे।' थोड़ी ही देर में शिवाजी के लोगों के पीछे मुगल-सेना भागती दीख पड़ी। इसप्रकार सारी सेना मायावी शिवाजी को पकड़ने दौड़ी और इधर शिवाजी सकुशल लौट आये।

सन्त तुकाराम बयासीवें वर्ष में प्रवेश कर चुके थे। उनके उपदेश और अभंगों से महाराष्ट्र के दूर-दूर के लोग परिचित हो चुके थे। चैत्रबदी द्वितीया के दिन वे भजन करते अपने घर से निकले। लोगों ने पूछा, "तुकोबा ! आप कहाँ जा रहे हैं?" उत्तर मिला, "हम वैकुण्ठ जा रहे हैं। अब न लौटेंगे।" यह सुनकर कुछ भक्तगण भी जिज्ञासावश उनके पीछे चलने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "सबसे बार-बार हमारा प्रणाम कहना। हम पर कृपादृष्टि रखना। अब बहुत देर हो गयी है। वे हमें वैकुण्ठ बुला रहे हैं। अन्त समय श्रीविट्ठल प्रसन्न हुए हैं। तुकाराम सदेह वैकुण्ठ जाते हैं।" इतने में भक्तों ने देखा कि आकाश में अलौकिक तेज छा गया है और फूलों की वृष्टि के साथ मंगल-वाद्य बज रहे हैं। देखते ही देखते तुकाराम अन्तर्धान हो गये और पृथ्वी की एक महती आत्मा परमात्मा के चरणों में लौट गयी।

●

मानस-पीयूष —१

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं. रामकिंकरजी उपाध्याय भारत के प्रसिद्ध रामायणी हैं। आश्रम के प्रांगण में रामचरितमानस पर उनके कई प्रवचन हो चुके हैं। उन्होंने अपना प्रथम प्रवचन ४ अक्तूबर, १९६६ को दिया था। उसी प्रवचन की पहली किश्त हम पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। भविष्य में इसी प्रकार धारावाहिक रूप से उनके प्रवचनों को प्रकाशित करने की इच्छा है।—सं०)

रामचरितमानस की सर्वाधिक विलक्षणता यह है कि वह सार्वजनीन और सार्वकालिक है। ऐसे अनेक ग्रन्थ या काव्य लिखे जाते हैं जिनमें विद्वानों को तो आनन्द मिलता है, पर साधारण व्यक्ति उन्हें समझ नहीं पाते। और ऐसे भी लेखक हैं जिनकी कृतियाँ मनोरंजन-प्रधान हैं, पर वे विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पातीं। रामचरितमानस की विलक्षणता यह है कि यह समान रूप से सभी के लिए है। चाहे विशिष्ट विद्वान् हों अथवा साधारणजन, सभी को उसमें रसानुभूति होती है। इसकी रचना ही कुछ इस प्रकार से की गयी है कि आप चाहे जैसी रुचि लेकर उसके पास जायँ, आपको उसमें कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त होगा। गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस का नाम 'रामचरित-मानस-सर' रखा। सर का अर्थ होता है सरोवर, जहाँ जल भरा हो। इस सरोवर में उन्होंने चार घाटों की कल्पना की। इस रूपक का

अभिप्राय यह है कि सरोवर में विभिन्न प्रयोजनों से लोग जाते हैं। एक स्नान करने जाता है, तो दूसरा जल पीने और तीसरा गहराई में डुबकी लगाने। जिस सरोवर में जितने अधिक गुण होंगे, वह उतने ही अधिक लोगों को आकृष्ट कर पायेगा। स्नान करनेवाला व्यक्ति देखेगा कि सरोवर का जल स्वच्छ है या नहीं। जल पीनेवाला जानना चाहेगा कि जल में मधुरता है या नहीं, तथा जो गोता लगाने जायेगा वह इसकी गहराई का पता लगायेगा। इस तरह किसी की दृष्टि स्वच्छता की ओर है, किसी की मधुरता की ओर तो किसी की गहराई की ओर। गोस्वामीजी ने चार घाटों की रचना विभिन्न दृष्टिकोण वाले लोगों को लेकर की है। इन चार घाटों में चार वक्ता और चार श्रोता हैं। इनका क्रम इस प्रकार है-- एक घाट पर भगवान् शंकर हैं, वे पार्वती को कथा सुना रहे हैं। दूसरे घाट पर काकभुशुंडजी गरुड़ को कथा सुना रहे हैं। तीसरे घाट पर याज्ञवल्क्य द्वारा भरद्वाज को कथा सुनायी जा रही है तथा चौथे पर गोस्वामीजी स्वयं कथा कह रहे हैं। विभाजन की दृष्टि से हम इन्हें ज्ञान, भक्ति, कर्म और दैन्य का घाट कह सकते हैं। शिवजी का घाट ज्ञान का घाट है। काकभुशुंडजी का घाट भक्ति का घाट है। याज्ञवल्क्य का घाट कर्म का तथा गोस्वामीजी का घाट दीनता का घाट है। या यों कह लें कि भगवान् राम के चरित्र को चार दृष्टियों से देखा जा सकता है-- ज्ञान की दृष्टि से, भक्ति की दृष्टि से, कर्म की दृष्टि से

तथा दैन्य की दृष्टि से। इस तरह भगवान् शंकर, काकभुशुंड, याज्ञवल्क्य तथा गोस्वामीजी की दृष्टि क्रमशः ज्ञान, भक्ति, कर्म और दीनता की दृष्टि है। भगवान् राम के चरित्र को मानस के प्रथम आचार्य शिवजी किस दृष्टि से देखते हैं इस पर पहले विचार करें।

गोस्वामीजी से प्रश्न किया गया कि रामचरितमानस-सरोवर की गहराई क्या है? उन्होंने कहा—

रघुपति महिमा अगुन अबाधा।
बरनब सोई बर बारि अगाधा॥

मानस में भगवान् की जो अगुन महिमा है वही इस जल की गहराई है। यही शिवजी की गहराई की दृष्टि है। रामचरितमानस में एक सुंदर प्रसंग आता है। रावण की मृत्यु हो चुकी है। देवतागण भगवान् राम को बधाई देने आये हुए हैं। भगवान् राम के चारों ओर बड़ी भीड़ लगी हुई है। ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर तथा अन्य लोकपाल भगवान् राम की स्तुति करते हैं कि उन्होंने दुष्ट रावण का वध करके संसार का बड़ा कल्याण किया। वे रावण की निन्दा करते हैं। कोई कहता है—

विश्व द्रोह रत यह खल कामी।
निज अघ गयउ कुमारग गामी॥

तो दूसरा कहता है—

पर द्रोह रत यह दुष्ट।
पायो सो फल पापिष्ठ॥

इस तरह रावण की निन्दा और भगवान् राम की प्रशंसा होती है। उन्हें बधाई दी जाती है। लेकिन आश्चर्य की बात है, देवताओं की इस भीड़ में भगवान् शंकर नजर नहीं आते। देवता स्वयं आश्चर्य प्रकट करते हैं कि ऐसे मांगलिक पर्व पर भगवान् शंकर उपस्थित क्यों नहीं हैं! ऐसा तो नहीं कि रावण की मृत्यु से उन्हें आघात लगा हो, क्योंकि वह उनका प्रिय शिष्य था? पर बात ऐसी नहीं थी। शंकरजी आते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं--

> अस्तुति करि करि सुर चले
> चढ़ि चढ़ि रुचिर विमान।
> देखि सुअवसर राम पहँ
> आयेउ शम्भु सुजान॥

--'जब सभी देवता अपने अपने वाहनों पर बैठकर अपने लोकों को चले गये तब सुन्दर अवसर देखकर सुजान शम्भु आये।' इसमें व्यंग्य यह है कि जब अजानों की भीड़ छट गयी, तब सुजान आये। जब तक अजानों की भीड़ जुटी हुई थी, तब तक सुजान ने आने की आवश्यकता नहीं समझी। भगवान् राम को देखने की ये दो दृष्टियाँ हैं। एक देवताओं की, और दूसरी, शिव की। देवता जिस दृष्टि से भगवान् राम के चरित्र को देखते हैं, शिव उस प्रकार नहीं देख पाते। जब देवता स्तुति करने आते हैं, तब गोस्वामीजी उनके लिए कोई बहुत अच्छा शब्द प्रयुक्त नहीं करते। वे लिखते हैं--

आये देव सदा स्वारथी ।
बचन कहें जनु परमारथी ।।

--'ये स्वार्थी देवता आ गये जो बातें परमार्थी-जैसी करते हैं पर जिनकी बुद्धि हमेशा स्वार्थ में लगी रहती है ।' वे लोग राम की प्रशंसा करते हैं, उनकी विजय पर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं, पर इस सबके पीछे उनकी स्वार्थबुद्धि है, किसी न किसी प्रकार के लाभ की आशा है । शंकरजी के लिए गोस्वामीजी 'सुजान' की उपाधि देते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् शंकर ही सच्चे अर्थों में भगवान् राम के चरित्र का स्वरूप जानते हैं ।

भगवान् शंकर आये । आकर उन्होंने भगवान् राम की स्तुति की । पर आश्चर्य की बात ! आदि से अन्त तक पूरी स्तुति में रावण का कहीं उल्लेख तक नहीं । रावण के वध के बारे में कहीं भी एक शब्द नहीं । उचित तो यह होता कि वे उसकी चर्चा करते पर ऐसा लगता है इस घटना पर शंकरजी की दृष्टि ही नहीं है । वे पहला वाक्य यह कहते हैं --

मामभिरक्षय रघुकुल नायक ।
धृतबर चाप रुचिर कर सायक ।।

--'हे प्रभो राघवेन्द्र ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।' इसमें भी बड़ा व्यंग्य है : देवताओं ने कहा--'आपने रावण को मारकर हमारी रक्षा कर दी । अब हम सुरक्षित हो गये ।' पर शंकरजी मुस्कराकर बाद में

कहते हैं--देवताओं की रक्षा तो आपने कर दी, अब मेरी कीजिये। आश्चर्य तो यह है--अब रक्षा की जरूरत किससे? रावण मर चुका, कुम्भकरण मारा गया, मेघनाद नहीं रहा, सारे राक्षसों का विनाश हो चुका। तो शंकरजी अब किससे रक्षा चाहते हैं? यही रामायण को देखने की अन्तरंग दृष्टि है, गहराई की दृष्टि है, जिसे हम शिव की दृष्टि कहते हैं। देवताओं की दृष्टि में रावण मर चुका था और इसलिए वे प्रसन्न थे। पर शिवजी की दृष्टि में वह मरा नहीं। इसीलिए वे कहते हैं--'प्रभो! मेरी रक्षा कीजिए।' उनका तात्पर्य यह था कि जिस रावण का वध मैं आवश्यक समझता हूँ वह अभी नहीं हुआ। उससे मुझे बचाइये। उसका जब वध हो जायेगा तब मैं आपको बधाई दूंगा। उससे पहले नहीं।

वस्तुत: रावण के दो रूप हैं--बहिरंग और अन्तरंग। बहिरंग रूप से इतिहास में त्रेतायुग में एक व्यक्ति रावण के रूप में जन्म लेता है, संसार में अत्याचार करता है और भगवान् राम अवतार लेकर उसका विनाश करते हैं। भगवान् शंकर का अभिप्राय यह है कि क्या एक रावण का नाश होने से उसका अत्याचार समाप्त हो गया? क्या संसार भर की बुराई एक बुरे व्यक्ति के मरने से दूर हो गयी? क्या संसार से रावणत्व खत्म हो गया? नहीं, एक व्यक्ति-विशेष के मरने मात्र से बुराई नहीं मिट सकती। रावण के मरने मात्र से रावणत्व दूर नहीं होगा।

आवश्यकता तो इस रावणत्व के विनाश की है। इसीलिए भगवान् शंकर कहते हैं---'प्रभो ! मेरी रक्षा कीजिए इस रावणत्व से।'

यह रावण सांकेतिक रूप से तीन बार जन्म लेता है। रामायण के प्रारम्भ में ही कथा आती है कि विष्णु के पार्षद जय और विजय शापग्रस्त हो त्रेतायुग में रावण और कुम्भकरण बनते हैं। ये ही सतयुग में हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष तथा द्वापर में शिशुपाल और दन्तवक्र के रूप में जन्म लेते हैं। रावण प्रत्येक युग में है। केवल उसका नाम और रूप बदल जाता है। मुझे एक घटना याद आती है! काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में यही प्रसंग चल रहा था। एक छात्र ने मुझसे कहा, "रावण के तीन जन्म होते हैं, इससे मैंने एक बात समझी।" मैंने पूछा, "क्या ?" उसने कहा, "हमारा यह चौथा युग सबसे अच्छा है, क्योंकि इस युग में रावण का जन्म नहीं होता। सतयुग, त्रेता और द्वापर सभी में रावण के जन्म की कथा आती है। पर हमारा कलियुग उससे बचा रहा। नहीं तो बताइये इस युग में रावण और कुम्भकरण किस रूप में जन्म लेते हैं ?"

मैंने कहा, "तुम्हारा निष्कर्ष ठीक नहीं है। बात यह है कि सतयुग, त्रेता और द्वापर में रावण और कुम्भकरण एक-एक नाम से ही आये थे। पर इस चौथे युग में तो वे इतने नामों से आ गये हैं कि किनको

रावण कहें और किनका कुम्भकरण !" तात्पर्य यह है कि रावण और कुम्भकरण प्रत्येक युग में विद्यमान हैं जो व्यक्ति के रूप में भले ही मिट जायँ, पर विकारों के रूप में मनुष्य के अन्तःकरण में---समाज में सदा विद्यमान रहेंगे। इसलिए भगवान् शिव कहते हैं कि प्रभो ! एक व्यक्ति रावण तो मर गया, देवताओं ने आपको बधाई भी दे दी। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जो एक-एक रावण है, उस सबका जब तक नाश नहीं हो जाता तब तक मैं आपको कैसे बधाई दूं? शिव की यही दृष्टि पूरे रामचरितमानस में व्यापक रूप से विद्यमान है। श्री हनुमानजी के चरित्र में भी यही भाव दृष्टिगोचर होता है।

हनुमानजी भगवान् शंकर के ही अवतार हैं। वे लंका जलाकर आते हैं। भगवान् राम के मंगलमय चरणों में नत होते हैं। प्रभु उनकी सराहना करते हुए कहते हैं, "हनुमान ! तुमने कितना महान् कार्य किया है। जिस असम्भव कार्य की कोई कल्पना तक नहीं कर सकता था वह तुमने कर दिखाया। मैं तुम्हारा अत्यन्त ऋणी हूँ---

प्रति उपकार करौं का तोरा ।
सनमुख होई सकल मन मोरा ॥

साथ ही प्रभु ने प्रश्न किया---

कहु कपि रावण पालित लंका ।
केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ।

और प्रभु की सराहना सुनकर हनुमानजी ने क्या किया ?---

सुनि प्रभु वचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमन्त।
चरण परेउ प्रेमाकुल, त्राहि त्राहि भगवन्त।।

हनुमानजी भगवान् की वाणी सुनकर प्रसन्न होते हैं। हृदय में हर्ष का अनुभव करते हैं। साथ ही साथ दो कार्य और करते हैं। एक तो इन वाक्यों को सुनकर उनके चरणों में गिर पड़ते हैं और दूसरा, कह उठते हैं––'त्राहि! त्राहि!' 'प्रभो! रक्षा कीजिए––प्रभो! रक्षा कीजिए।' हनुमानजी का चरणों में गिरने का तात्पर्य क्या है? उनका अभिप्राय यह है कि संसार में व्यक्ति से बुरे कार्य तो होते ही रहते हैं, कभी-कभार अच्छे कार्य भी हो जाते हैं तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। जब व्यक्ति प्रशंसा सुनता है तो उसे अहंकार हो जाता है और अहंकार के आने से व्यक्ति ऊपर से नीचे गिर पड़ता है। तो भगवन्, लंका तो जल गयी, प्रशंसा आप कर ही रहे हैं, अब अहंकार के बाद गिरना भर बाकी है। इसलिए मैंने सोच लिया कि जब गिरना ही है तो ऐसी जगह क्यों न गिरूँ जहाँ गिरने से गिरने का भय ही मिट जाय! गिरने योग्य अगर कोई स्थान है तो आपके मंगलमय चरण ही हैं। और हनुमानजी प्रभु के चरणों में गिर पड़ते हैं। साथ ही साथ पुकार उठते हैं–– 'त्राहि त्राहि भगवन्त'––प्रभो! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए! लंका में हनुमानजी ने रक्षा के लिए नहीं पुकारा। राक्षसों से लड़े, अशोकवाटिका का ध्वंस कर डाला, लंका को जला डाला, पर कहीं भगवान् से रक्षा

की याचना नहीं की । जब नागपाश में बँधे, राक्षसों से घिरे हुए थे और प्रभु से दूर थे, तब प्रभु को नहीं पुकारा, पर आज जब अपने बान्धवों से घिरे हुए भगवान् राघवेन्द्र के इतने निकट हैं तब पुकार उठते हैं--रक्षा कीजिए। क्यों? इसलिए कि हनुमानजी की वही दृष्टि है जो भगवान् शंकर की थी। हनुमानजी का अभिप्राय यह था कि प्रभो! लंका में मुझे भय नहीं था, क्योंकि वहाँ तो मैं जानता था कि राक्षस मेरे सामने हैं और मुझे इनसे लड़ना है। पर यहाँ जब आप ही प्रशंसा करके इस अहंकार के राक्षस को बल दे रहे हैं तब तो यह और भी शक्तिशाली हो जायेगा। इसलिए भगवन्, दया करके आप इस अहंकार से मेरी रक्षा कीजिए। मुझे बाहर के राक्षस की अपेक्षा इस अन्तरंग के राक्षस से अधिक भय लगता है।

अतः हमें चाहिए कि हम भगवान् राम के चरित्र को दोनों दृष्टियों से देखें और उससे लाभ उठायें। एक तो उनकी प्रशंसा करें कि उन्होंने बहिरंग रावण का वध करके जगत् का बड़ा कल्याण किया और दूसरे, उनसे प्रार्थना करें कि हमारे अन्तरंग जीवन में जो राक्षस है उसका विनाश करें।

गोस्वामीजी से किसी ने कहा, आप इस युग में भगवान् राम की भक्ति का उपदेश क्यों देते हैं? अब उसकी आवश्यकता क्या है? किसी युग में रावण के अत्याचार से लोग संत्रस्त थे। उन्होंने भगवान् से

प्रार्थना की। भगवान् ने अवतार लेकर रावण का विनाश किया। लोगों ने उस समय उनकी स्तुति की और पूजा की। पर आज के युग में उनकी क्या आवश्यकता है? हम वर्तमान लोगों की जय न बोलकर, भक्ति न करके भगवान् राम की जय क्यों बुलवायें, उनकी भक्ति क्यों करें? गोस्वामीजी ने कहा– 'भगवान् राम तो निरन्तर वर्तमान हैं।' यह भी रामचरितमानस की एक महत् दृष्टि है। जब कोई 'भगवान् राम थे' शब्दों का प्रयोग करता है, तब वह रामचरितमानस के प्रति, गोस्वामीजी के प्रति बड़ी अश्रद्धा प्रकट करता है। क्या भगवान् भी कभी 'थे' होते हैं? 'थे' तो व्यक्ति होता है जो कभी 'था' और अब 'नहीं' है। जो भगवान् हैं, वे तो सदा ही रहेंगे। गोस्वामीजी की मान्यता क्या है? गोस्वामीजी गीतावली में एक मीठी बात लिखते हैं। जब भगवान् राम के जन्म की बेला आयी, उनका अवतार हुआ, तब उस समय स्त्रियों ने गीत गाया। गीतावली में गोस्वामीजी ने अनेक गीत लिखे हैं। उनसे पूछा गया कि आपको कैसे पता चला कि स्त्रियों ने यही गीत गाया? वाल्मीकि रामायण या अध्यात्म रामायण किसी में तो उल्लेख नहीं आता कि यह गीत गाया गया था। तब आपने यह गीत कहाँ से लिया? गोस्वामीजी कहते हैं कि यह मैंने किसी रामायण से नहीं लिया। तो आपने कवि-कल्पना से काम लिया होगा कि बच्चों के

जन्म के समय गीत गाये जाते हैं इसलिये राम-जन्म के समय भी गीत गाया गया होगा ? गोस्वामीजी कहते हैं कि नहीं, मैंने कल्पना भी नहीं की। बड़े आश्चर्य की बात ! न तो आपने दूसरे ग्रंथ से ही लिया, न आपने कल्पना ही की, तो फिर आपको पता कैसे चला कि यही गीत गाया गया ? गोस्वामीजी इसका उत्तर देते हुए 'गीतावली रामायण' में कहते हैं--

'तहँ तुलसिहु मिलि गायो।'

—अरे ! गानेवालों में तो मैं स्वयं ही सम्मिलित था। दूसरों से मुझे पूछने की अथवा कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या ? यहाँ पर प्रश्न उठता है कि कहाँ गोस्वामीजी का जन्म आज से चार सौ वर्ष पूर्व, और कहाँ हजारों वर्ष पूर्व भगवान् राम का अवतरण ! यह कैसे सम्भव है ? पर गोस्वामीजी तो कहते हैं कि जब भगवान् राम का जन्म हुआ तब मैंने गीत गाया। उनसे पूछा गया कि अब क्या स्थिति है ? गोस्वामीजी को चित्रकूट बड़ा प्रिय था। वे बहुधा वहाँ जाया करते थे। किसी ने पूछा कि आप चित्रकूट शायद इसलिए जाते हैं कि वहाँ भगवान् राम रहे थे ? गोस्वामीजी ने कहा-- 'रहे थे' इसका क्या तात्पर्य ? कौन कहता है 'रहे थे'?--

'चित्रकूट महँ बसत प्रभु नित सिय लखन समेत।'

--'चित्रकूट में तो प्रभु सदा-सर्वदा सीताजी और लक्ष्मण के साथ निवास करते हैं!'

इसका अर्थ यह हुआ कि जब भगवान् राम का अवतरण

हुआ, तब गोस्वामीजी अवस्थित हैं और जब गोस्वामीजी का अवतरण हुआ, तब भगवान् राम विद्यमान हैं। भगवान् और जीव के बीच में कालगत परिच्छिन्नता वास्तविक नहीं हो सकती। यह तो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच ही सम्भव है। जब भगवान् हैं तब इसका अर्थ ही यह है कि वे सार्वकालिक हैं। हमारी समस्याएँ भी तो सार्वकालिक हैं। हमारे सम्मुख आज भी रावण, कुम्भकरण, मेघनाद की समस्याएँ हैं। वे भी युग-युगव्यापी हैं। इसीलिए गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं कि जब आज भी हमारे जीवन में लंका है, रावण, कुम्भकरण और मेघनाद हैं, तब हमें भगवान् राम की उतनी ही आवश्यकता है जितनी त्रेतायुग में लोगों को थी। इसीलिए भगवान् शिव देखते हैं कि वास्तविक रावण की तो मृत्यु नहीं हुई है। वह तो प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर विद्यमान है। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी बतलाते हैं कि ये रावण, कुम्भकरण और मेघनाद क्या हैं तथा किस रूप में हमारे अन्दर विद्यमान हैं। हमारे जीवन में जो मोह है—यही रावण है।

मोह दशमौलि तद् भ्रात अहंकार।

रावण मोह है और उसका भाई कुम्भकरण अहंकार है। लोग जब कुम्भकरण की लम्बाई-चौड़ाई पढ़ते हैं तब उनके मन में संशय होने लगता है कि क्या सचमुच में ऐसा लम्बा-चौड़ा व्यक्ति हो सकता है? युगों-पहले इतने बड़े व्यक्ति होते थे कि नहीं, इस पर विवाद करने से

आज कोई लाभ नहीं। हो सकता है कि रहे हों, पर आज तो हमारे सामने उस रूप में कोई विद्यमान नहीं है। लेकिन अगर हमारे पास नापने का ऐसा कोई पैमाना हो जिससे हम अपने अन्दर विद्यमान कुम्भकरणरूपी अहंकार की लम्बाई-चौड़ाई नाप सकें, तो देखेंगे कि रामायण में वर्णित उसकी लम्बाई-चौड़ाई इसकी अपेक्षा छोटी पड़ जायेगी। गोस्वामीजी कहते हैं कि हमारे जीवन में रहनेवाला कुम्भकरण और कोई नहीं, हमारा अहंकार ही है। यह अहंकार इतना बड़ा है, प्रत्येक व्यक्ति का 'मैं' इतना बड़ा है कि उसकी तुलना में उसका शरीर छोटा पड़ जाता है। चाहे जितना भी बड़ा पैमाना हमारे पास हो, पर उसकी लम्बाई-चौड़ाई तथा उसकी विशालता को नापना असम्भव है। मानस में सुन्दर सांकेतिक कथा आती है--

भगवान् शंकर और ब्रह्मा कुम्भकरण को वरदान देने पहुँचते हैं। पर उसे देखकर घबरा जाते हैं। उन्हें लगता है--

जो दिन प्रति अहार कर सोई।
बिस्व बेगि सब चौपट होई ।।

--यदि यह कुम्भकरण दिन-रात खाता रहेगा तब तो यह सारा संसार चौपट हो जायेगा। बात बिल्कुल पते की है। 'अहंकार'-जैसा खानेवाला संसार में भला और कौन है? मनुष्य के खाने के लिए क्या चाहिए?--थोड़ा भोजन, भले ही मात्रा का थोड़ा-बहुत भेद हो।

मनुष्य को धन भी बहुत अधिक नहीं चाहिए। शरीर के लिए वस्त्रों की भी अधिक आवश्यकता नहीं। पर मनुष्य के 'अहं' के लिए तो इतना चाहिए कि वह कभी पूरा नहीं हो सकता। मनुष्य का 'मैं' इतना भूखा है कि वह भले सारे संसार को समेटकर अकेला खा जाय, फिर भी कहता रहेगा कि अभी तो हमारी भूख नहीं गयी। इसलिए संसार में अगर सबसे भूखा कोई है तो वह है मनुष्य का अहंकार। पर ब्रह्मा बड़े चतुर हैं। उन्होंने जान लिया कि कुम्भकरण यह वर माँगेगा––'मैं छः महीने जागूँ और एक दिन सोऊँ।' ब्रह्माजी ने सोचा, इसके वर को उलट दिया जाय। उन्होंने उसकी मति फेर दी––

सारद प्रेरि तासु मति फेरी।
माँगेसि नींद मास षट केरी॥

और उसने वरदान माँगा––भगवन्! हम छः महीने सोयें और एक दिन जागें। यह वर देकर ब्रह्माजी ने लोगों पर बड़ी कृपा की। यह कृपा केवल त्रेतायुग के लोगों पर नहीं वरन् हम लोगों पर भी है कि हमारा अहंकार छः महीने सोता रहे। तभी इतनी शान्ति बनी हुई है, आप लोग चुपचाप बैठे हुए हैं, एक दूसरे को कष्ट नहीं दे रहे हैं। यह जान लीजिए कि कुम्भकरण सो रहा है। और जब आपस में लड़ने लगें तो समझिये कि कुम्भकरण जाग गया। यह तो उसके जागने और सोने की ही बात है। एक पतली गली से दो व्यक्ति एक दूसरे की ओर आ रहे हैं। यदि दोनों का कुम्भकरण एक साथ

जग जाय तो कोई किसी को रास्ता थोड़े ही देगा। वे तो आपस में लड़ मरेंगे। कहेंगे--हम क्यों हटें, तुम्हीं हट जाओ। अगर एक हट जाता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कुम्भकरण सोया हुआ है--'मैं' सोया हुआ है।

ब्रह्माजी ने यह भी सोचा कि अहंकार अगर बिल्कुल न रहे, तो वह भी ठीक नहीं। इसलिए कुम्भकरण को चेतावनी देते हुए कहा कि छः महीने सोना और एक दिन जागना। पर बेटा! याद रखना, कहीं बीच में जागे तो मारे जाओगे। इसका अभिप्राय यह है कि अगर अहंकार को जगाना है तो समय देखकर जगाइये। उसे चाहे जब जगा देने से विनाश हो जायगा। कभी कभी यह आवश्यक भी हो जाता है कि व्यक्ति के जीवन में अथवा समाज के जीवन में अहंकार जागे। पर वह एक ही दिन के लिए जागे और बाकी दिन सोया रहे। रामायण में आता है कि जब कुम्भकरण जागता है तब वह बन्दरों को उठा-उठाकर खा जाता है। उसी प्रकार, समाज के क्षेत्र में जब कुम्भकरणरूपी अहंकार जागता है, तो महायुद्ध हो जाते हैं और लोग आपस में लड़ मरते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मोह और अहंकार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में विद्यमान हैं।

(क्रमशः)

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरदचन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) साधुता

कुरु देश की रानी बड़ी ही दुष्टा प्रकृति की थी। जब उसे पता चला कि बुद्धदेव उसके प्रदेश में आ रहे हैं, उसने नौकर-चाकरों को आज्ञा दी कि वे उनका अनादर करें। बुद्धदेव के नगर-प्रवेश करते ही लोगों ने उन्हें 'चोर', 'मूर्ख', 'गधा' आदि शब्दों से सम्बोधन करना शुरू किया, पर बुद्धदेव शान्त ही रहे। आखिर उनके प्रिय शिष्य आनन्द से न रहा गया। वह उनसे बोला, "भन्ते! हमें यहाँ से चले जाना चाहिए।"

बुद्धदेव ने पूछा, "कहाँ जाना चाहते हो?"

आनन्द ने उत्तर दिया, "किसी दूसरे नगर में, जहाँ कोई हमें अपशब्द न कहे।"

बुद्धदेव—"और वहाँ भी यदि कोई दुर्व्यवहार करे, तो?"

आनन्द—"किसी और स्थान चले जाएँगे!"

बुद्धदेव—"नहीं! जहाँ दुर्व्यवहार हो रहा हो, उस स्थान को तब तक नहीं छोड़ना चाहिए, जब तक वहाँ शान्ति स्थापित न हो। क्या तुमने यह नहीं देखा कि मेरा व्यवहार संग्राम में बढ़ते हुए हाथी की तरह होता है? जिस प्रकार हाथी चारों ओर के तीरों को सहता

रहता है, उसी तरह हमें दुष्ट पुरुषों के अपशब्दों को सहन करते रहना चाहिए। याद रखो, आनन्द ! लोग तो वश में किये हुए खच्चरों, सिन्धु देश के घोड़ों तथा जंगली हाथियों को उत्तम मानते हैं, किन्तु सबसे उत्तम तो वह है, जो स्वयं को वश में रखे--कभी उत्तेजित न होवे।"

(२) समदर्शिता

गुरु नानक मक्का की यात्रा कर रहे थे। एक दिन एक सज्जन ने उनसे पूछा, "हिन्दू और मुसलमान में कौन बड़ा है ?" नानकदेव ने उत्तर दिया, "प्रश्न बड़ा ही जटिल है। वास्तव में बड़ा वह व्यक्ति है, जो सदा भलाई करता रहता है और परमात्मा में रमता है। 'बाबा आँखें हाजियों शुभ, अमला बाझों दोवे रोई'-- बिना अच्छे और नेक कर्म के दोनों को रोना पड़ेगा।"

उस व्यक्ति ने पुनः प्रश्न किया, "आप किस जाति और सम्प्रदाय को सुशोभित करते हैं ?"

नानकजी ने उत्तर दिया, "मैं सन्तों के सम्प्रदाय का हूँ। मेरी जाति वही है, जो वायु और अग्नि की है; मैं वृक्षों और पृथ्वी की तरह ही अपना जीवन-यापन करता हूँ और उन्हीं की तरह काटे जाने अथवा खोदे जाने के लिए तैयार हूँ; नदी की तरह मुझे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं कि कोई मेरी तरफ फूल फेंकता है या गन्दगी; चन्दन की तरह मैं उसी को जीवित समझता हूँ, जिससे सुगन्ध निस्सरित होती हो।"

(३) सहनशीलता

एक बार स्वामी दयानन्दजी फर्रुखाबाद गये, जहाँ गंगा के तट पर उन्होंने अपना आसन जमाया। समीप ही एक झोपड़ी में एक साधु रहता था। स्वामीजी को वहाँ आया देख उसे ईर्ष्या हुई और वह उनके पास रोज आकर गालियाँ दिया करता, किन्तु स्वामीजी उस ओर ध्यान न दे मुस्करा देते।

एक दिन स्वामीजी के एक भक्त ने उन्हें फलों का एक टोकरा अर्पित किया। स्वामीजी ने उसमें से कुछ अच्छे फल निकाले और उन्हें एक शिष्य से उस साधु को देने के लिए कहा। शिष्य फल लेकर उस साधु के पास पहुँचा। उसने स्वामीजी का नाम लिया ही था कि वह साधु चिल्ला उठा, "यह सबेरे-सबेरे किस पाखण्डी का नाम ले लिया तुमने! अब तो आज मुझे भोजन मिलता है या नहीं, इसमें शंका ही है। जाओ, ये फल किसी और को देने के लिए कहे होंगे!"

वह शिष्य स्वामीजी के पास वापस आया और उनसे सारी बात कह दी। स्वामीजी उसे लौटाते हुए बोले, "जाओ, उससे कहो कि आप उन पर प्रतिदिन जो अमृत-वर्षा किया करते हैं उसमें आपकी पर्याप्त शक्ति नष्ट होती है, इसलिए आप इन फलों का रसास्वादन करें, जिससे आपकी शक्ति बनी रहे।"

शिष्य ने स्वामीजी का सन्देश ज्यों का त्यों सुना दिया। सुनते ही उस साधु पर मानो घड़ों पानी पड़

गया। उसे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और वह आकर स्वामीजी के चरणों पर गिरकर बोला, "क्षमा करें, मैं तो आपको साधारण मनुष्य समझता था, मगर आप देवता निकले!" और स्वामीजी ने उसे गले लगा लिया।

(४) मितव्ययिता

खलीफ़ा हज़रत अली राजकीय कागजात देख रहे थे कि कुछ सरदार किसी निजी कार्य के सम्बन्ध में उनसे मिलने आये।

हज़रत अली जिस दिये की रोशनी में कागज देख रहे थे, उसे उन्होंने तुरन्त बुझा दिया और एक दूसरा दिया जलाकर उन सरदारों से बातें करने लगे। यह देख उन सरदारों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। जब सरदारों की बातचीत पूरी हुई, तो हज़रत अली ने दूसरा दिया बुझाकर पहला जलाया और फिर कागजात देखने लगे। अब तो वे सरदार अपना कुतूहल न रोक सके। उन्होंने उन दोनों दियों को जलाने का प्रयोजन पूछा। हज़रत अली ने उत्तर दिया, "जिस समय आप आये थे, मैं सरकारी तेल की रोशनी में सरकारी काम कर रहा था। आप ही कहें, निजी बातों में सरकारी तेल कैसे जलाया जा सकता है? आपके आने पर मैंने अपने घर का दिया जलाया।"

(५) सच्ची सेवा

गाड़गे महाराज सच्चे निष्काम कर्मयोगी थे। उनके कपड़े फटे-चिथड़े होते थे तथा एक लकड़ी, फटी-पुरानी

चादर तथा मिट्टी का एक छोटा बर्तन यही उनकी सम्पत्ति थी। उनका बर्तन मिट्टी का होने के कारण ही लोगों ने उनका नाम 'गाड़गे' रखा।

सन् १९०७ के पौष मास में अमरावती के समीपस्थ ऋणमोचन नामक ग्राम में बड़ा मेला लगा। तब हजारों दर्शनार्थी वहाँ एकत्रित हुए। मेले में लोग स्वच्छता का ख्याल नहीं करते; फलस्वरूप दोने-पत्तलों के कूड़े, रसोई के लिए प्रयोग किये गये मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े तथा गन्दगी जहाँ तहाँ पड़ी थी, किन्तु लोगों का उस ओर बिलकुल ही ध्यान न था। पर युवा गाड़गे महाराज नदी की ऊँची कगार को काटकर स्नानार्थियों के लिए राह बनाने में जुट गये। इतना ही नहीं, हाथ में झाड़ू ले वे अकेले गन्दगी की सफाई करने लगे। दर्शनार्थियों के मन में कौतूहल के साथ साथ उनके प्रति आदरभाव जागृत हुआ, किन्तु किसी की भी इच्छा न हुई कि उनका साथ दे।

इतने में उनकी माता की दृष्टि उन पर पड़ी तो उसने उन्हें घर लौट चलने कहा। तब गाड़गे महाराज बोले, "माँ! अपने आसपास का मानव-संसार ही भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है। इन कोटि लोगों की यथाशक्ति सेवा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना हो सकती है। सुगन्धित फूल-पत्तों को पत्थर की मूर्ति पर चढ़ाने की अपेक्षा अपने आसपास विद्यमान चलती-फिरती दुनिया की सेवा तथा भूखों के लिए रोटी की व्यवस्था करने में ही

जीवन की सार्थकता है । ऐसे फूल-पत्तों से तो हमारी झाड़ू श्रेष्ठ है । पर यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आ सकती।"

और यह सुन माता का हृदय गद्गद् हो उठा।

(६) सहृदयता

श्रीरामकृष्ण परमहंस के शिष्य नाग महाशय को एक बार भोजेश्वर जाना था। उनके एक मित्र पाल ने उनको मार्ग-व्यय के लिए आठ रुपये तथा शीत से बचने के लिए एक कम्बल दिया। टिकट लेने के लिए नाग महाशय जब टिकटघर के सामने लगी पंक्ति में खड़े हुए, तब वहाँ एक भिखारिन आयी और उनके सामने खड़े एक सेठ से बोली, "सेठजी! मेरे बच्चे कई दिनों से भूखे हैं। तन ढँकने के लिए कपड़ा भी नहीं है। देखिए, यह बच्चा ठण्ड के मारे कैसा ठिठुर रहा है। सहायता करें, भगवान् आपका भला करेगा।" मगर सेठ का तो उस ओर ध्यान ही नहीं था। नाग महाशय ने जो सुना, तो तुरन्त वह आठ रुपया तथा कम्बल उस भिखारिन को दे दिया और स्वयं कलकत्ता की ओर पैदल चल पड़े। रास्ते में खर्च के लिए उन्होंने यात्रियों का सामान ढोकर, रात को चौकीदारी करके तथा रोगियों का उपचार कर पैसा एकत्रित किया, तब कहीं वे अपने गन्तव्य स्थान को उनतीस दिनों बाद पहुँच सके।

●

योग की वैज्ञानिकता—७

डा अशोक कुमार बोरदिया

२२

पातंजल-योगसूत्र के प्रथम अध्याय के नवें सूत्र में विकल्प नामक चित्तवृत्ति की परिभाषा की गयी है, जिसका उल्लेख पिछले लेख में किया जा चुका है। जाग्रत्-अवस्था और स्वप्नावस्था दोनों में ही मानसिक विकल्प होते रहते हैं। अन्तर केवल इतना है कि स्वप्न पर हमारी इच्छाशक्ति का नियंत्रण नहीं रहता, जब कि चेतनावस्था में हम अपनी इच्छा से मन में उठ रही कल्पनाओं को रोक सकते हैं अथवा परिवर्तित कर सकते हैं। इस आधार पर कल्पना के दो प्रकार किये जा सकते हैं :——

(१) सक्रिय रचनात्मक कल्पना (Active Constructive Imagination)——जब किसी नवीन कार्य को करने के लिये हम कल्पना का सहारा लेते हैं तो वह सक्रिय रचनात्मक कल्पना कहलाती है। लेखादि लिखने के लिये, भवन आदि का निर्माण करने के लिये तथा योजनाबद्ध रीति से कोई भी कार्य करने के लिये रचनात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। इसे सक्रिय इसलिये कहा गया कि इसे हम जान-बूझकर करते हैं तथा यह वास्तविकता पर आधारित रहती

है। इसमें तर्क, बुद्धि, पूर्व अनुभव आदि का पर्याप्त उपयोग होता है। ये क्रियात्मक कल्पनाएँ अत्यधिक उपयोगी होती हैं। वैज्ञानिकों और कलाकारों की सफलता इसी पर निर्भर रहती है। कल्पनाशक्ति के अभाव में इंजीनियर भवन का अच्छा नक्शा नहीं बना सकता। सूर और तुलसी ने सर्वोत्कृष्ट भक्ति-काव्य की रचना कल्पना की सहायता से ही की थी।

गम्भीरता से सोचने पर यह भी स्पष्ट हो जायगा कि हमारा सारा आध्यात्मिक जीवन कल्पना पर ही निर्भर करता है। साधना की प्रारम्भिक अवस्थाओं में परमेश्वर के किसी रूप का हमें प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ होता। किन्तु ध्यान में हमें उनके किसी न किसी काल्पनिक रूप का अवलम्बन लेना पड़ता है, उनके जीवन तथा लीलाओं के सम्बन्ध में सोचना पड़ता है और उनके गुणों की कल्पना करनी पड़ती है। ये समस्त कल्पनाएँ अवास्तविक होते हुए भी हमारे चित्त में निरन्तर उठ रहे हानिकारक, व्यर्थ अथवा अशुभ विकल्पों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती हैं।

(२) निष्क्रिय रचनात्मक कल्पना (Passive Constructive Imagination) ——उपर्युक्त समस्त प्रकार की कल्पनाओं को उपयोगी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि वे नियंत्रित हों। नियंत्रण के अभाव में वे दिवा-स्वप्न (Day Dreaming) अथवा 'शेखचिल्ली के

महल' का रूप ले लेती हैं। इसमें काल्पनिक रचना तो होती है, किन्तु क्रियात्मक रूप में परिणत न हो सकने के कारण ये निष्क्रिय कही गयी हैं। फिर, इस प्रकार की कल्पना के लिये किसी प्रकार की मानसिक चेष्टा नहीं करनी पड़ती। बिना प्रयास के ही व्यर्थ के विचार मन में उठते रहते हैं और इन पर हमारा नियंत्रण नहीं होता। इसमें हम वास्तविकता से दूर रहते हैं। हमारी अतृप्त वासनाओं और इच्छाओं की पूर्ति इस प्रकार के दिवास्वप्नों के द्वारा होती है। इनका सम्बन्ध प्रायः भविष्य से होता है, जैसे एक भिखारी का भविष्य में अपने आपके राजा होने की कल्पना करना।

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि हम उपयोगी और अनुपयोगी दोनों प्रकार की कल्पनाएँ करते रहते हैं। पर हमें अपनी कल्पनाशक्ति का अधिकाधिक रचनात्मक उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे असजग उधेड़बुनों के क्षणों का कोई उपयोग ही नहीं है। वास्तव में तो इस प्रकार की कल्पनाएँ हमारी अनेक अतृप्त वासनाओं की आंशिक पूर्ति का एक माध्यम हैं। किन्तु यह भी डर है कि बहुत अधिक अनियंत्रित कल्पना में डूबा रहनेवाला व्यक्ति मानसिक विकृति का शिकार हो सकता है।

२३

पातंजल-योगसूत्र के प्रथम अध्याय के ११ वें सूत्र में 'स्मृति' नामक चित्तवृत्ति की परिभाषा निम्न प्रकार से की गयी है--

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।। ११ ।।

--अर्थात्, 'अनुभव किये हुए विषयों का मन से लोप न होना (और संस्कारवश उनका ज्ञान के स्तर पर आ उठना) स्मृति कहलाता है।' विकल्प के समान स्मृति में भी इन्द्रियों का किसी बाह्य विषय के साथ सम्पर्क नहीं होता। बिना किसी बाह्य उत्तेजना के चित्त में स्मृति का उदय हो सकता है। किन्तु विकल्प और स्मृति में एक भिन्नता है। स्मृति में चित्त में उत्पन्न वृत्ति पहले किये गये अनुभव के अनुरूप होती है, जबकि विकल्प में अनुभव के साथ कोई समानता नहीं होती। स्मृति में पूर्व अनुभव अपरिवर्तित रूप में चेतन मन पर उभर आते हैं। अनुभव के अनुरूप संस्कार होते हैं और संस्कार के अनुरूप स्मृति होती है। जागृतावस्था में प्रमाण अर्थात् सत्यज्ञान, विपर्यय यानी भ्रम और विकल्प, इन तीनों के संस्कार पड़ते हैं। निद्रा के भी संस्कार माने गये हैं तथा स्मृति के भी अपने स्वतः के संस्कार होते हैं जो पुनः स्मृति को जन्म देते हैं। अतः स्मृति एक विशुद्ध वृत्ति नहीं है, बल्कि एक मिश्रित प्रक्रिया है जिसके प्रत्यक्ष अनुभव, संस्कारों का निर्माण और पुनःस्मरण आदि अंग हैं। पाश्चात्य

मनोविज्ञान में स्मरण की इस समग्र प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है तथा उसके निम्नलिखित अंग बतलाये गये हैं :—

(१) शिक्षण या स्थितिकरण (Learning or Fixation)—पूर्व अनुभव की वह क्रिया जिसके संस्कार पड़े हैं।

(२) धारणा (Retention)—सीखे हुए अनुभवों को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया; इसके अभाव में हम भूल जाते हैं।

(३) प्रत्यावाहन (Recall)—अनुकूल उत्तेजना प्राप्त होने पर वस्तुस्थिति को याद करने की प्रक्रिया।

(४) प्रत्यभिज्ञा (Recognition)—पहले देखे हुए किसी व्यक्ति को याद कर लेना कि 'पहले कहीं देखा है' इतना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि 'वह कौन है', 'उसे कहाँ और कब देखा था', इत्यादि बातों को भी जानना पड़ता है। यह सब जिसके द्वारा जाना जाता है उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इसके बिना स्मरण अधूरा ही रह जाता है।

स्मरण की इस प्रक्रिया को प्रभावित करनेवाले विभिन्न घटकों का विस्तृत अध्ययन शिक्षा-शास्त्र का विषय है। किन्तु स्मृति से सम्बन्धित कई ऐसी बातें हैं, जो प्रत्येक आध्यात्मिक साधक के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। किसी भी चीज को याद करने के लिये सर्वप्रथम उपयुक्त उत्तेजना की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति

वृन्दावन-यात्रा से लौटकर आपसे मिले तो आपको स्वयं अपनी पूर्वयात्रा स्मरण हो आयेगी। जैसा वातावरण होता है, उसी के अनुरूप संस्कार उत्पन्न होते हैं, जो स्मृति के रूप में उभर आते हैं। अतः हमें प्रयत्नपूर्वक अपने घरों में ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहिये जो शुभ, धार्मिक एवं पवित्र स्मृतियों को जगा दे।

स्मरण को प्रभावित करनेवाला दूसरा घटक है मानसिक झुकाव। कुछ बातों को हम बार बार पढ़कर, सुनकर अथवा अनुभव करने पर भी भूल जाते हैं, जबकि कई अन्य बातों को कठिन होते हुए भी हम याद रख लेते हैं। विद्यार्थी पाठ्य विषय को मानसिक झुकाव या रुचि के अभाव में याद नहीं रख पाता। जो बातें हमें सुख प्रदान करती हैं, जिनसे हमें भावनात्मक लगाव रहता है, वे बातें सहज ही याद हो जाती हैं। धार्मिक कथा-कहानियों एवं आख्यायिकाओं के माध्यम से आध्यात्मिक सत्यों को प्रस्तुत करने का प्रयोजन भी यही है कि लोग धार्मिक बातों में रुचि लेने लग जायें। एक बार आकर्षण पैदा हो जाने पर वे स्वयं बिना प्रयास के उन्हें याद रख सकेंगे।

शारीरिक और मानसिक स्वस्थता भी स्मृति को प्रभावित करती है। जब हम ज्वर से पीड़ित होते हैं तब बातें आसानी से याद नहीं आतीं। उसी प्रकार थकावट की अधिकता भी याददाश्त को कम कर देती

है। भय, क्रोध, अथवा गहरे क्षोभ के क्षणों में भी प्रत्यावाहन नहीं हो पाता। परीक्षा में परीक्षक के सम्मुख विद्यार्थी भय और व्यग्रता के कारण ऐसे प्रश्न का उत्तर भूल जाता है, जिसे वह सामान्यतः देने में समर्थ रहता है। काम और क्रोध से स्मृति-भ्रंश की बात तो गीता में भी कही गयी है।

कभी कभी स्मृति-नाश लाभप्रद भी होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम अपने समस्त अनुभवों को याद नहीं रख पाते। रुचिकर एवं उपयोगी बातों को याद रखकर तथा अन्य बातों को भूलकर हम अपने मस्तिष्क में नयी बातों के लिये स्थान बना लेते हैं। फिर यह आवश्यक भी है कि हम अपने दुःखपूर्ण अथवा ग्लानि और वेदना उत्पन्न करनेवाले गत अनुभवों को बिसरा दें, नहीं तो जीवन व्यर्थ ही दुःखमय हो जायेगा। किन्तु रोचक बात तो यह है कि यदि हम किसी बात को प्रयत्नपूर्वक भूलना चाहें तो वह हमें और याद रहती है। भूलने का नियम यह है कि जो हम भूलना चाहें उसकी उपेक्षा कर दें तथा नये विचारों को उठाने का प्रयत्न करें।

२४

स्मृति का भौतिक आधार क्या है, इस प्रश्न को हल करने के लिये आधुनिक शरीर-विज्ञान के क्षेत्र में अनेक गवेषणाएँ हुई हैं। हमारे उच्च मस्तिष्क (Cerebral Hemisphere) के अनेक भाग स्मृति से

सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु फ्रान्टल एरिया इन सबसे महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक प्रत्यक्ष अनुभव अथवा संवेदना मस्तिष्क में स्थायी रासायनिक और स्नायविक परिवर्तन करती है जो वस्तुत: स्मृति का आधार है। जब इन्द्रियजन्य संवेदना स्नायु-तन्तुओं के माध्यम से मस्तिष्क में पहुँचती है तब वहाँ सूक्ष्म विद्युत्-तरंगों को जन्म देती है। ये तरंगें दूसरे स्नायु-तन्तुओं को उत्तेजित करती हैं। उत्तेजना और पुनरुत्तेजना का यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक मस्तिष्क के इन स्नायुओं में स्थायी रासायनिक परिवर्तन नहीं हो जाता। इस प्रक्रिया को पूरा होने में कुछ समय लगता है, और इसीलिये ऐसी दुर्घटनाओं में जिनमें मस्तिष्क क्षतिग्रस्त हो जाता है, व्यक्ति दुर्घटना के ठीक पहले की बातों को भूल जाता है। रिबो-न्यूक्लिक एसिड (R. N. A.) नामक पदार्थ ही स्मृति का रासायनिक आधार है। वैज्ञानिकों ने इस द्रव्य को एक प्रयोगात्मक पशु से निकालकर दूसरे में डालकर स्मृति को भी एक से दूसरे जानवर में स्थानान्तरित करने में आंशिक सफलता प्राप्त की है। किन्तु इस प्रकार के चमत्कारिक अनुसन्धान अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। इन प्रयोगों के आधार पर वैज्ञानिक ऐसी औषधियों की खोज में संलग्न हैं जो हमारी पूर्व स्मृतियों का नाश करने अथवा उन्हें पुन: जागृत करने में समर्थ हो सकेंगी।

श्रीरामकृष्ण के जीवन का एक दिन—२

ब्रम्हचारी निर्गुण चैतन्य

धनी लोहारिन के मुख से नवजात शिशु के जन्म की घोषणा सुनकर क्षुदिरामजी का हृदय परमानन्द से भर गया। श्रीराम के जन्म के समय राजा दशरथ की दशा कैसी थी ?—

दशरथ पुत्रजन्म सुनि काना।
मानहुँ ब्रह्मानन्द समाना ॥
परमप्रेम मन पुलक सरीरा।
चाहत उठन करत मति धीरा ॥
जाकर नाम सुनत सुख होई।
मोरे गृह आवा प्रभु सोई ॥

तो यही दशा क्षुदिरामजी की हो रही थी। आनन्दविभोर हो वे श्रीरघुवीर के चरणों में बारम्बार प्रणाम कर रहे थे। उन्होंने गाँव के ज्योतिषियों को बुलवाकर जन्म-नक्षत्रादि पर विचार कराया। ज्योतिषियों ने बताया कि नवजात शिशु आगे चलकर धर्मवेत्ता होगा और सदा साधना में रत रहेगा। अनेक शिष्य-परिवृत होकर वह किसी देवमन्दिर में वास करेगा तथा नवीन धर्म-सम्प्रदाय का प्रवर्तन कर भगवान् श्रीहरि के अवतार के रूप में सर्वत्र पूजित होगा। क्षुदिराम यह सब सुनकर विस्मित हो उठे।

गयाधाम का स्वप्न उनकी आँखों में पुनः सक्रिय हो उठा और इसीलिये उन्होंने बालक का नाम रखा 'गदाधर'।

जब भगवान् मनुष्य-रूप धारण कर इस धराधाम पर अवतीर्ण होते हैं, तब अपने माता-पिता को वे यह ज्ञान करा देते हैं कि जो निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण-साकार होकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करता है, वही उनकी गोद में उनके पुत्र-रूप से अवतरित हुआ है। किन्तु साथ ही प्रभु उन्हें वात्सल्य रस पिलाने के लिये तथा अपने और उनके बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध बनाये रखने कें लिए उनको अपने प्रति मनुष्य-बुद्धि भी प्रदान करते हैं, ताकि वे एक साधारण बालक मानकर उनका लालन-पालन कर सकें। माता कौसल्या ने जब श्रीराम का ऐश्वर्यमण्डित चतुर्भुज रूप देखा, तो वे उनकी स्तुति करने लगीं। किन्तु जब भगवान् ने देखा कि माता को ज्ञान उत्पन्न हुआ है, तब वे मुस्कराए। वे तो बहुत प्रकार से चरित्र करना चाहते हैं। अतः उन्होंने पूर्वजन्म की सुन्दर कथा कहकर माता को समझाया जिससे उनको वात्सल्य-प्रेम प्राप्त हो। उस मुस्कराहट से माता की बुद्धि बदल गयी—

'माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।।'

बस, फिर क्या था, भगवान् भी शिशु-लीला करने लगे और माता उन्हें पुत्र-बुद्धि से ही खेलने लगीं।

यही बात श्री क्षुदिराम और चन्द्रामणि देवी पर घटती है। उन्हें यद्यपि अनेकानेक दिव्य दर्शनादि से यह ज्ञान हो चुका था कि उनका पुत्र गदाधर ईश्वरावतार है, तथापि वात्सल्य रस के परिपाक के लिए यह ज्ञान बीच बीच में विस्मृत हो जाता था। ऐसी अवस्था में गदाधर की अलौकिक लीला देख माता चन्द्रामणि घबड़ा उठती थीं।

एक दिन की बात है। गदाधर छः दिन का हो चुका था। गत छः दिनों से क्षुदिराम के प्रांगण में धूमधाम मची हुई थी। ग्रामवासी क्षुदिराम और चन्द्रामणि देवी को बधाइयाँ देने आ-जा रहे थे। कल ही छठी की पूजा समाप्त हुई थी। माता चन्द्रामणि गदाधर को गोद में ले धूप में बैठी थीं कि अचानक उन्हें बालक भारी प्रतीत हुआ। भार इतना बढ़ता गया कि उसे वे अपनी गोद में रखने में असमर्थ हो गयीं। इधर उनकी गोद भार से दबी जा रही थी और उधर वे उसे गोद से उतारने में भी असमर्थ थीं। भयभीत चन्द्रामणि देवी के मुख से एक चीख निकल पड़ी। किसी प्रकार साहस कर उन्होंने भयवश गदाधर को पास ही रखे एक सूपे में लिटा दिया। चन्द्रामणि देवी की चीख सुनकर घर के सब लोग वहाँ उपस्थित हो गये। उन सबके देखते देखते सूपा बालक के भार से चुरमुर होने लगा। सूपा टूट न जाए इस भय से चन्द्रामणि देवी बालक को पुनः गोद में उठाने के लिए

गयीं, परन्तु बालक तो भारी वजन के समान दोनों हाथों से भी न उठा। माता चकित हो रही थीं और बालक मुस्करा रहा था। उसने तो यह लीला पहले भी की थी जिसका वर्णन श्रीमद्‌भागवत में मिलता है। एक दिन माता यशोदा अपने प्यारे लाला को गोद में लेकर दुलार रही थीं। सहसा श्रीकृष्ण चट्टान के समान भारी बन गये। माता ने भार से पीड़ित हो कन्हैया को पृथ्वी पर बिठा दिया और चकित होकर देखने लगीं। इतने में तृणावर्त नामक राक्षस बच्चे को आकाश में उड़ाकर ले गया। तब बालक ने अपना भार और बढ़ाना आरम्भ किया। वह इतना भारी हो गया कि महादैत्य तृणावर्त उसके भार को न सँभाल सका और उसका वेग शान्त हो गया। उसे ऐसा लगने लगा मानो बालक नीलगिरि की चट्टान हो। अन्त में बालक कृष्ण ने महादैत्य का गला दबा दिया और वह समस्त दिशाओं को कँपाता हुआ धराशायी होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। तो ऐसे भगवान् के लिए भारी होना कोई आश्चर्य नहीं था। किन्तु कौन जानता था कि सूपा पर सोनेवाला कौन है? किसी ने कहा, "बालक में कहीं कोई ब्रह्मदैत्य तो प्रवेश नहीं कर गया है?" सभी को बात जँच गयी। हो न हो, नीम के पेड़ वाला ब्रह्मदैत्य बालक पर आ गया हो। शाँखारी पारा में एक ओझा रहता था। उसे बुलवाया गया। ओझा ने आकर बालक को बड़े गौर से देखा

और फिर हाथ जोड़कर 'ॐ नमः शिवाय' का तीन बार जप किया। बालक एकदम हल्का होकर स्वाभाविक अवस्था में आ गया।* ओझा ने सभी उपस्थित लोगों से कहा, "धन्य है आपका गाँव और आप! एक बार पुनः कामारपुकुर को वृन्दावन और नदिया बनाने श्रीकृष्ण और श्रीगौरहरि स्वयं इस शिशु के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। यह शिशु मनुष्य नहीं है, यह तो साक्षात् महादेव है। जब कभी फिर ये भारी होने लगें तो केवल उनका नाम उन्हें सुनाने से वे स्वाभाविक अवस्था में आ जायेंगे।"

और एक दिन की बात है। गदाधर की आयु उस समय सात-आठ महीने की होगी। माता चन्द्रामणि देवी बालक गदाधर को स्तनपान करा रही थीं। उन्होंने देखा कि गदाधर सो गया है। सोते हुए बालक का मुख और भी दिव्य एवं सुन्दर प्रतीत हो रहा था। माँ बहुत देर तक उसे निहारती रहीं। फिर मच्छरों से बचाव के लिए मच्छरदानी के अन्दर उसे सुलाकर वे घर के काम-काज में लग गयीं। कुछ समय पश्चात् जब वे किसी कार्यवश कमरे में घुसीं, तो सहसा उनकी दृष्टि मच्छर-दानी में सोये हुए पुत्र की ओर दौड़ी। परन्तु वहाँ तो पुत्र के स्थान पर एक दीर्घाकार अपरिचित पुरुष सम्पूर्ण मच्छरदानी को घेरकर लेटा था! चन्द्रामणि इस दृश्य को

* किसी किसी के मत में धनी ने ही 'ॐ नमः शिवाय' का उच्चारण कर बालक को स्वाभाविक अवस्था में ला दिया था।

देख भयभीत हो चिल्ला उठीं और दौड़कर क्षुदिराम के पास आयीं, तथा उन्हें सारी बात बतलायी। दोनों ही उस कमरे में आये जहाँ बालक सोया हुआ था। उन्होंने देखा कि बालक तो पूर्ववत् सो रहा है और आसपास कहीं कोई दीर्घाकार पुरुष नहीं है। माता का भय तब भी बना रहा। बालक की जगह एक दीर्घाकार पुरुष को उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। यह घटना मथ्या तो हो नहीं सकती थी। अतः उनको ऐसा प्रतीत होने लगा कि किसी भूत-प्रेत के कारण ही ऐसा हुआ होगा। इसलिये उन्होंने क्षुदिरामजी से किसी अनुभवी ओझा को बुलवाने के लिये प्रार्थना की ताकि पुत्र का कोई अनिष्ट न हो। क्षुदिराम ने चन्द्रामणि देवी को आश्वासन देते हुए कहा, "जिस पुत्र के जन्म से पूर्व ही हमने नाना प्रकार के दिव्य दर्शनादि पाये हैं, उसके सम्बन्ध में अब भी उस प्रकार की घटनाएँ होना कोई विचित्र बात नहीं है। भूत-प्रेतों की बात तुम कभी न सोचना। क्या तुम्हें नहीं मालूम, भगवान् श्रीरघुवीर के जीवन में भी कुछ ऐसी ही घटना हुई थी ? एक बार माता कौसल्या ने श्रीराम को स्नानादि कराया और पालने पर पौढ़ा दिया। फिर अपने कुलदेवता के पूजार्थ स्वयं स्नानादि किया। पूजा करके नैवेद्य चढ़ाया और रसोई में जाकर जब लौटीं तो क्या देखती हैं कि उनका पुत्र भगवान् को चढ़ाये गये नैवेद्य का भोजन कर रहा है। माता भयभीत हो गयीं। सोचा, यह क्या ! मैं तो

इसे पालने में पौढ़ा आयी थी, वहाँ से भला कौन इसे उठाकर यहाँ बैठा गया ! वे तुरन्त पालने की ओर दौड़ीं तो देखा कि पुत्र तो पूर्ववत् सोया हुआ है। पुनः वे पूजा-स्थान पर आकर देखती हैं कि पुत्र अब भी भोग लगा रहा है। उनका हृदय काँपने लगा, मन अधीर हो उठा। फिर भगवान् ने माता को घबड़ायी देखकर अपना अखण्डरूप दिखलाया, तब जाकर कौसल्या माता का मन शान्त हुआ। अतएव हे देवि ! तुम्हारा पुत्र तो स्वयं रघुवीर ही है। उसके साथ यह सब घटनाएँ होना कोई विचित्र बात नहीं है। अतः तुम चिन्ता न करो।"

क्षुदिराम के इस प्रकार समझाने पर माता चन्द्रामणि को कुछ शान्ति मिली।

•

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

१९ जनवरी को 'ला सेलेट एकेडमी' में स्वामीजी ने 'पुनर्जन्म' पर व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा--"पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्राचीन धर्मों का एक प्राचीनतम सिद्धान्त है। यहूदी और ईसाई धर्मों के पुरातन आचार्य इसे जानते थे। अरबवासी भी इसमें विश्वास करते थे। हिन्दुओं और बौद्धों का तो इस पर पुराना विश्वास है। आज के पाश्चात्यवासी इस पर विश्वास नहीं करते। वे इसे अनैतिकतापूर्ण मानते हैं। वे एक न्याय-परायण ईश्वर में विश्वास करते हैं। किन्तु प्रकृति तो हमारे सामने न्याय के बदले अन्याय प्रकट करती है। एक मनुष्य अच्छी परिस्थितियों में जन्म लेता है। सारे जीवन भर उसे अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती हैं। वह सुख और समृद्धि में जीता है, जबकि दूसरा दाने दाने को मुहताज होता है। प्रत्येक पग पर उसे दुख और दारिद्र्य का सामना करना पड़ता है। न्यायपरायण ईश्वर के राज्य में यह असमानता क्यों? इसका उत्तर पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही दे सकता है। यह हमें अनैतिक बनाने के बदले न्याय का मार्ग दिखलाता है। यह हमें प्रत्येक कार्य के लिए 'यह ईश्वर की इच्छा है'--कहना

नहीं सिखलाता। प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। समस्त कारणों को तथा सम्पूर्ण कार्य-कारण-सिद्धान्त को ईश्वर पर छोड़कर हम उसे अनैतिक प्राणी बना देते हैं। कारण-परम्परा ही कार्य को जन्म देती है। इस प्रकार मनुष्य का वर्तमान जन्म उसके पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप हुआ है।

"मैं ट्रेन से मिनियापालिस से आ रहा था। गाड़ी में एक ग्वाला भी था। वह नीली नाकवाला प्रिसबिटेरियन था। स्वभाव का उज्जड था। उसने मुझसे पूछा कि मैं कहाँ का निवासी हूँ। मैंने कहा—भारत का। फिर पूछा कि मेरा धर्म क्या है? मैंने उत्तर दिया—हिन्दू। उसने कहा, तब तो तुम अवश्य ही नरक जाओगे। मैंने उसे पुनर्जन्म के सिद्धान्त के बारे में बतलाया। उसने कहा कि वह बहुत दिन से इस सिद्धान्त पर विश्वास कर रहा है। एक दिन जब वह लकड़ी के लट्ठे को चीर रहा था तब उसकी बहन उसके कपड़े पहिनकर उसके पास आयी और बोली कि वह पहले पुरुष थी। तब से उसे इस सिद्धान्त पर विश्वास हो चला है। पुनर्जन्मवाद की एक और सुन्दरता यह है कि वह हमें नैतिक प्रेरणा प्रदान करता है। वह कहता है जो हुआ सो हुआ। उसके लिए अफसोस करने से कोई लाभ नहीं। अब आगे अपनी उँगली आग में मत डालो। प्रत्येक क्षण एक नया अवसर प्रदान कर रहा है। उसका लाभ उठाओ।"

दूसरे दिन के भाषण का विषय था--'भारत के रीति-रिवाज'। उस दिन मूसलाधार वर्षा होने के कारण श्रोताओं की संख्या कम थी। संवाददाता ने इस वक्तृता का विवरण देते हुए लिखा--"विवेकानन्द जिन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे हैं वे इस शहर के तथा अमेरिका के अन्य नगरों के रहनेवाले कतिपय श्रेष्ठ विचारकों के मन में सरलता से घर कर लेते हैं। उनका सिद्धान्त ईसाई पादरियों द्वारा प्रचारित परम्परागत विश्वास के लिए घातक है। मूर्तिपूजक भारत के अन्धकार से भरे मस्तिष्क को आलोकित करना ही ईसाई पादरियों का सर्वाधिक प्रयास रहा है। पर ऐसा लगता है, कानन्द के प्राच्य धर्म की उज्ज्वल प्रभा ने हमारे पूर्वजों द्वारा प्रचारित पुराकालीन ईसाई धर्म के सौन्दर्य को ग्रस्त कर लिया है तथा उसे अमेरिका के श्रेष्ठतर शिक्षित निवासियों के बीच फलने-फूलने को उर्वर भूमि प्राप्त हो गयी है।

"यह अपने मनपसन्द सिद्धान्तों का युग है। और ऐसा प्रतीत होता है कि कानन्द एक 'चिरकाल से अनुभूत' अभाव की पूर्ति कर रहे हैं। वे सम्भवतः अपने देश के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं तथा उनमें अद्भुत मात्रा में व्यक्तिगत आकर्षण है। श्रोता उनकी वक्तृता पर मुग्ध हो जाते हैं। यद्यपि वे अपने विचारों में उदार हैं, तथापि उन्हें कट्टरपन्थी ईसाई धर्म में बहुत कम सराहनीय बातें मिलती हैं। कानन्द ने मेम्फिस में आनेवाले समस्त

वक्ताओं तथा धर्मोपदेशकों की अपेक्षा लोगों का ध्यान सर्वाधिक आकर्षित किया है।

"अगर भारत में मिशनरियों का ऐसा ही स्वागत हो जैसा इस हिन्दू संन्यासी का यहाँ हुआ है, तो मूर्तिपूजक देश में ईसा की शिक्षा का प्रचार विशेष गति प्राप्त करेगा। कल शाम का उनका भाषण ऐतिहासिक दृष्टि से रोचक था। वे अपने देश के अति प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक के इतिहास और परम्परा से पूर्ण परिचित हैं तथा वहाँ के विभिन्न रोचक स्थानों और वस्तुओं का वर्णन सुन्दर और सहज शैली में कर सकते हैं।..."

पर यह बात सच नहीं कि सबने स्वामीजी को आदर के साथ ग्रहण किया हो। विशेषत: पादरी लोग उनका विरोध करने में आगे रहते। सुलीवान नामक पादरी इसमें अग्रणी थे। २१ जनवरी को उन्होंने गिर्जाघर में भाषण देते हुए स्वामीजी के भाषणों की कड़ी आलोचना की। उन्होंने बाइबिल को समस्त धर्मग्रन्थों में श्रेष्ठ घोषित किया। उनके अनुसार धर्ममहासभा १९वीं शताब्दी की सबसे बड़ी धोखेबाजी थी। पुनर्जन्मवाद की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा, 'वे (स्वामीजी) कहते हैं कि मरने के बाद आत्मा किसी पशु में अथवा किसी दूसरे प्राणी में चला जायेगा। ऐसी अवस्था में में जीने की अपेक्षा मरकर शून्य में विलीन हो जाना ज्यादा पसन्द करूँगा। इस तरह का नास्तिक होने की

अपेक्षा अपने गले में पत्थर बाँधकर समुद्र में डूब जाना कहीं ज्यादा बेहतर है !'

२१ जनवरी की शाम को स्वामीजी के निवासस्थान पर एक गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें नगर के सुप्रतिष्ठित विद्वान् सम्मिलित हुए। स्वामीजी से अनेक प्रश्न पूछे गये और उन्होंने सहज भाव से उनके उत्तर दिये। 'अपील अवलांश' के संवाददाता ने इस गोष्ठी का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया। इससे स्वामीजी के अन्तरंग जीवन की तथा जनमानस पर पड़े उनके प्रभाव की सुन्दर झाँकी मिलती है। वह लिखता है--

हिन्दू संन्यासी स्वामी विवे कानन्द ने यहाँ अपने आवास के बीच अपने व्याख्यानों से लोगों को विशेष रूप से आकृष्ट किया है। उनका अमेरिका में आने का प्रयोजन लोगों द्वारा गलत समझा गया है। वे यहाँ भारत के किसी धर्म का प्रचार करने नहीं आये हैं और न उनका उद्देश्य धर्मान्तरण का ही है। उनका अभिप्राय यहाँ से चन्दा एकत्रित कर अपने देश में एक पॉलिटेक्निक संस्था खोलने का है, जिसको केन्द्र बनाकर वे अपने देश में एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का निर्माण करना चाहते हैं, जिससे लोगों का मस्तिष्क तकनीकी शिक्षा की ओर विकसित हो सके। ऐसी शिक्षा अभी उन लोगों के लिए एक नयी चीज है।

कानन्द का पश्चिमी भूमिखण्ड में निवास करनेवाले अमरीकनों के धार्मिक विश्वास से कोई झगड़ा नहीं है।

यद्यपि वे उनकी जीवन-प्रणाली से, उनकी सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं से काफी असहमत हैं, पर वे जब तक बाध्य न किये जायँ इनकी आलोचना नहीं करते। वे अमरीकी जीवन तथा विचारों की उन्हीं बातों को ग्रहण करना चाहते हैं जो उनके देशवासियों के विकास में सहायक हो सकें। सम्भाषणकर्ता के रूप में वे बड़े रुचिकर हैं और अपने व्यवहार में विनम्र हैं। जब तक कोई प्रश्नों द्वारा उनके मिशन, उनके धर्म अथवा उनके देशवासियों पर आघात नहीं पहुँचाता, वे किसी के प्रति अविश्वास प्रकट नहीं करते। पर यदि कोई ऐसा करे तो वे बिना आक्रामक हुए, दृढ़ता से अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं। जब वे अपने लोगों के रीति-रिवाज की तुलना पाश्चात्यों से करते हैं, तो सम्भवतः उस समय यदा-कदा उनकी भंगी में व्यंग्य की झलक, वैसे स्पष्ट दीखती तो नहीं पर अनुभव की जा सकती है। किन्तु स्वभाव से सज्जन, संस्कारों से विद्वान् तथा आत्म-निर्णय से संन्यासी होने के कारण वे सदैव विनम्र पाये गये हैं तथा उन्हें कभी भी असहिष्णु नहीं देखा गया।

अगर उनके स्वभाव में तनिकसा भी क्रोध होता तो वह कल शाम को अवश्य ही प्रकट हो जाता जब एक घंटे से भी अधिक समय तक उन्हें धुआँधार प्रश्नों का सामना करना पड़ा। पर वे पूर्ण सतर्क रहे और कभी कभी रक्षणात्मक ढंग से उत्तर देते रहे। इस गोष्ठी में वे लोग थे जो इस संन्यासी के मेम्फिस आने

के पश्चात् इनके कार्यों में रुचि लेते रहे हैं। उनमें 'अपील अवलांश' का प्रतिनिधि भी था। कानन्द ने अपने स्वदेशवासियों तथा उनके धर्म के बारे में बहुत कुछ कहा है। साथ ही अमरीकी लोगों तथा ईसाई धर्म पर भी उन्होंने बहुत सी चर्चाएँ की हैं। जिन सिद्धान्तों के आधार पर वे हिन्दू धर्म का प्रतिपादन करते हैं, उन पर चर्चा करने के लिए तथा ऐसे कई तथ्यों का समाधान करने के लिए जो उनके भाषणों के दौरान स्पष्ट नहीं हो पाये, संन्यासी के सम्मुख कई रोचक विषय छेड़े गये।

कानन्द बड़े नीतिनिपुण हैं। वैसे वे किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के लिए सदैव तैयार रहते हैं पर यदि सम्भाषण के बीच कोई बाधा उत्पन्न कर अपनी अवाक्-पटुता का परिचय देता है, तो वे बड़ी कुशलतापूर्वक प्रश्नकर्ता को बिना नाराज किये उसका विनोदपूर्ण उत्तर देते हैं। वे न केवल अपने देश के वरन् सारे संसार के धार्मिक, वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक साहित्य के अप्रतिम ज्ञाता हैं तथा अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल पर वे किसी भी परिस्थिति का सामना करने में सक्षम हैं। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में तथा उनके वार्तालाप में एक शिशु की-सी सरलता है जो अपने प्रति हर किसी की सहानुभूति अर्जित कर लेती है तथा उनके बोलने के पहले ही व्यक्ति उनके कथन की सचाई के प्रति आश्वस्त हो जाता है।

कानन्द के अनुसार आध्यात्मिक जीवन का विकास

हर कीमत पर होना चाहिए और उनका धर्म इसी आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए उन्मुख है, न कि भौतिकता के लिए ।

ला सेलेट एकेडमी की बैठक में, जो मेम्फिस-प्रवास के दौरान उनका घर है, बैठे हुए उन्होंने कहा, 'मैं संन्यासी हूँ, न कि पुरोहित । अपने देश में मैं जगह जगह घूमता हूँ । जिन गाँवों और शहरों से होकर निकलता हूँ, वहाँ के लोगों को उपदेश देता हूँ । अपने भरण-पोषण के लिए मैं उनके ऊपर निर्भर हूँ क्योंकि मुझे पैसा स्पर्श करने की आज्ञा नहीं है ।'

एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा, 'मैं बंगाल में उत्पन्न हुआ था और मैंने अपनी इच्छा से संन्यासी और ब्रह्मचारी का जीवन स्वीकार किया । मेरे जन्म पर मेरे पिता ने मेरी जन्मपत्री बनवायी थी, पर उन्होंने मुझे कभी नहीं बताया कि उसमें क्या था । अपने पिता की मृत्यु के कुछ दिन बाद जब मैं अपने घर गया, मैंने अपनी माँ के पास रखे हुए कागजों में वह पत्री देखी । उससे मैंने जाना कि मेरे भाग्य में पृथ्वी पर विचरण करना लिखा था ।'

वक्ता के स्वर में एक करुणा थी और श्रोताओं में से सहानुभूति की ध्वनि सुनायी पड़ी । तभी किसी ने पूछा, 'यदि आपका धर्म जो कुछ आप दावा करते हैं वैसा ही है, यदि वही सच्चा धर्म है, तो क्या कारण है कि आपके देशवासी अधिक सभ्य नहीं हो सके ? उस धर्म ने उन्हें

दुनिया के राष्ट्रों के बीच ऊँचा क्यों नहीं उठा दिया ?'

'इसीलिए कि वह किसी भी धर्म का कार्यक्षेत्र नहीं है।' हिन्दू ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया। 'मेरे देशवासी दुनिया में सबसे अधिक नैतिक हैं, या किसी भी जाति के बराबर तो नैतिक हैं ही। वे अपने मानव-भाइयों के अधिकारों के प्रति, यहाँ तक कि मूक पशुओं तक के प्रति, कहीं अधिक ध्यान देते हैं। पर वे भौतिकवादी नहीं हैं। किसी भी धर्म ने कभी किसी राष्ट्र या जाति के विचार या प्रेरणा को आगे नहीं बढ़ाया। बल्कि वास्तव में देखा जाय तो इतिहास में कभी कोई ऐसी महान् सफलता प्राप्त नहीं की गयी जिसको धर्म ने बाधा नहीं पहुँचायी हो। आप अपने जिस ईसाई धर्म पर इतना गर्व करते हैं वह भी इसका अपवाद सिद्ध नहीं हुआ। आपके डार्विन, मिल, ह्यूम आदि को कभी आपके मठाधीशों का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। तब इस बात के लिए मेरे ही धर्म की आलोचना क्यों ?'

समूह के एक व्यक्ति ने कहा--'मैं उस धर्म को एक कानी कौड़ी भी नहीं देना चाहूँगा जो मानवजाति के भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के उत्थान में सचेष्ट न हो। और इसी कारण मैं आपके वक्तव्यों की सत्यता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूँ। ईसाई धर्म ने कालेजों और अस्पतालों की स्थापना की है तथा पतितों को उठाया है। उसने दलितों का उत्थान किया है और अपने अनुयायियों को जीवन बसर करने में मदद दी है।'

'कुछ हद तक आपका कहना ठीक है', संन्यासी ने शान्त भाव से उत्तर दिया,' 'फिर भी इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि यह सब सीधा आपके ईसाई धर्म का परिणाम है। पश्चिम में अनेक अन्य कारण विद्यमान रहे हैं, जिनके फलस्वरूप यह सब हुआ है। धर्म का प्रयोग मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष के विकास के लिए होना चाहिए। विज्ञान, कला, विद्या और दार्शनिक अनुसन्धान इन सभी का जीवन में अलग अलग कार्य है। परन्तु यदि तुम इनका मिश्रण करना चाहो तो तुम इनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को नष्ट कर दोगे और कालान्तर में तुम लोग धर्म से आध्यात्मिकता को निकाल बाहर करोगे। तुम अमेरिकन लोग किसकी उपासना करते हो ? डालर की। तुम स्वर्ण के पीछे भाग रहे हो और अध्यात्म को भूल रहे हो और परिणाम यह है कि आज तुम भौतिकवादियों का एक देश बन गये हो। तुम्हारे उपदेशक और गिर्जाघर भी इसी सर्वव्यापी लालसा से कलुषित हैं। अपनी जाति के इतिहास में एक भी ऐसा व्यक्ति बताओ, जिसने वैसा आध्यात्मिक जीवन बिताया हो जैसा हमारे देश में लोगों ने बिताया है तथा जिनके नाम मैं गिना सकता हूँ। ऐसे लोग कहाँ हैं, जो मृत्यु के आने पर कह सकते हों—अहो भाई मृत्यु ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। तुम्हारा धर्म तुम्हें फेरिस व्हील तथा ईफिल टावर के निर्माण में तो मदद देता है, पर क्या वह तुम्हारे आन्तरिक जीवन के विकास

में भी तुम्हारी सहायता करता है ?'

संन्यासी आन्तरिकतापूर्वक बोल रहे थे और उनका मधुर तथा सुनियन्त्रित स्वर उस कमरे में छाये धुंधलेपन से छनकर आ रहा था---कुछ विषादपूर्ण और कुछ आरोपयुक्त । छः हजार वर्ष पुराने इतिहासवाले देश के इस नवागन्तुक द्वारा की गयी उन्नीसवीं शताब्दी की अमेरिका की समालोचना में कुछ सम्मोहन-सा था।

'किन्तु अध्यात्म की साधना में आप वर्तमान की माँगों के प्रति आँखें बन्द कर लेते हैं', किसी ने कहा। 'आपका सिद्धान्त मनुष्य को जीवित रहने में सहायता नहीं देता।'

'वह उन्हें मरने में सहायता देता है', उत्तर था।

'हम वर्तमान के प्रति आश्वस्त हैं।'

'तुम किसी चीज के प्रति आश्वस्त नहीं हो ?'

'आदर्श धर्म का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह व्यक्ति को जीवित रखने के साथ साथ उसे मरने के लिए भी सहायता प्रदान करे।'

'बिलकुल ठीक', हिन्दू ने शीघ्रता से कहा, 'और इसी को प्राप्त करने का हम प्रयत्न कर रहे हैं। मेरा विचार है कि हिन्दू धर्म ने भौतिकता के मूल्य पर अपने साधकों में आध्यात्मिकता का विकास किया है, और मैं सोचता हूँ कि पश्चिमी दुनिया में इसका उल्टा हुआ है। मेरा विश्वास है कि पश्चिम के भौतिकवाद और पूर्व के अध्यात्मवाद के समन्वय से बहुत कुछ

किया जा सकता है। यह हो सकता है कि इस प्रयत्न में हिन्दू धर्म अपना बहुत कुछ वैशिष्टय खो बैठे।'

'जो कुछ आप करने की आशा करते हैं, क्या उससे भारत की समस्त सामाजिक व्यवस्था में क्रान्ति नहीं करनी होगी ?'

'हाँ, शायद; फिर भी धर्म अक्षुण्ण बना रहेगा।'

अब बातचीत का रुख हिन्दुओं की उपासना-विधि की ओर बदला, और कानन्द ने इस विषय पर बहुत सी रोचक बातें बतलायीं। अज्ञेयवादी और नास्तिक लोग भारत में तथा अन्यत्र सभी जगह हैं। ब्रह्म के अनुयायियों के जीवन में 'अनुभूति' एक आवश्यक वस्तु है। विश्वास आवश्यक नहीं। थियोसाफी के बारे में कानन्द की विशेष जानकारी नहीं है। वह एक अलग अध्ययन का विषय है। कानन्द कभी मैडम ब्लावट्स्की से नहीं मिले। किन्तु अमेरिकन थियोसाफिस्ट सोसायटी के कर्नल आलकाट से उनकी भेंट हुई है। वे एनी बेसेन्ट से भी परिचित हैं। भारत के फकीरों, प्रसिद्ध मदारियों अथवा जादूगरों, जिनके चमत्कार विश्वविश्रुत हैं, की चर्चा करते हुए विवेकानन्द ने कुछ ऐसी घटनाएँ सुनायीं जो उन्होंने स्वयं देखी थीं और जो विश्वास से परे थीं।

जब इस विषय पर प्रश्न पूछे गये, तो उन्होंने कहा, 'आज से पाँच महीने पहले तथा इस देश के लिए भारत से प्रस्थान करने से एक माह पूर्व मुझे पच्चीस

व्यक्तियों के दल के साथ एक नगर में कुछ समय के लिए ठहरना पड़ा। वहाँ पर हमने इन घूमनेवाले जादूगरों में से एक के आश्चर्यजनक चमत्कारों के बारे में सुना और उसे अपने सामने बुलवाया। उसने हमें बताया कि हम जिस किसी वस्तु की इच्छा करें, वह उसे उपस्थित कर देगा। हमने उसके कथनानुसार उसके कपड़ों को उतारा, यहाँ तक कि वह बिल्कुल नग्न हो गया और उसे कमरे के एक कोने में बैठा दिया। मैंने अपनी यात्रा के कम्बल को उसके ऊपर डाल दिया और तब हमने उससे अपने वादे के अनुसार कार्य करने को कहा। उसने पूछा कि आप लोग क्या चाहते हैं? मैंने कैलिफोर्निया के अंगूरों का एक गुच्छा देने के लिए कहा। और तुरन्त उस व्यक्ति ने अंगूर के गुच्छों को कम्बल के नीचे से बाहर निकाला। फिर उसने सन्तरे और दूसरे फल निकाले तथा अन्त में गरम भात की बड़ी बड़ी थालियाँ।'

अपनी वक्तृता जारी रखते हुए संन्यासी ने कहा, 'मेरा एक "छठी इन्द्रिय" और विचार-संक्रमण (Teiepathy) में विश्वास है।' उन्होंने फकीरों के चमत्कारों की व्याख्या नहीं की। केवल यही कहा कि वे अत्यन्त आश्चर्यजनक थे। मूर्तिपूजा की बात आयी तो संन्यासी ने बताया कि धर्म के अंग के रूप में मूर्तियाँ केवल प्रतीक तक ही सीमित हैं।

संन्यासी ने पूछा, 'तुम किसकी उपासना करते हो?

ईश्वर के सम्बन्ध में तुम्हारी धारणा क्या है ?'

एक महिला ने धीरे से कहा, 'स्पिरिट'।

'यह स्पिरिट क्या है ? तुम प्रोटेस्टेंट लोग बाइबिल के शब्दों की उपासना करते हो अथवा उससे परे किसी वस्तु की ? हम लोग प्रतिमा द्वारा ईश्वर की उपासना करते हैं।'

'अर्थात् आप वस्तुगत से आत्मगत को प्राप्त करते हैं' ?--नवागन्तुक की बातों को ध्यान से सुननेवाले एक सज्जन ने कहा। 'हाँ, यही बात है'--संन्यासी ने आभारसिक्त स्वर में कहा।

विवेकानन्द उसी स्वर में आगे बात करते रहे। उनके भाषण का समय समीप होने के कारण गोष्ठी को समाप्त करना पड़ा।

(क्रमशः)

•

हम मनुष्यजाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं जहाँ न वेद है, न बाइबिल है, न कुरान है; परन्तु वेद, बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्यजाति को यह शिक्षा देनी चाहिए कि सब धर्म उस धर्म के, उस एकमेवाद्वितीय के भिन्न भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति उन धर्मों में से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सकता है।

—स्वामी विवेकानन्द

एकहिं माँगे सब मिलें

सन्तोषकुमार झा

जुए की शर्त के अनुसार धर्मनिष्ठ पाण्डवों ने बारह वर्ष वनों में रहकर तथा एक वर्ष तक अज्ञातवास करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की और उसके पश्चात् दुर्योधन से अपना राज्य वापस माँगा। पहले तो उसने यह आरोप लगाया कि पाण्डव समय के पूर्व पहिचान लिये गये, किन्तु जब यह आरोप सिद्ध न हो सका, तब अन्त में उसने धृष्टतापूर्वक कह दिया कि बिना युद्ध के मैं सूई के नोक के बराबर भूमि भी पाण्डवों को नहीं दूंगा।

अज्ञातवास की समाप्ति के पश्चात् उत्तरा से अभिमन्यु का विवाह हुआ। उस विवाह में यादवकुल-भूषण भगवान् श्रीकृष्ण, श्री बलरामजी आदि महापुरुष पाण्डवों की ओर से, तथा अनेक वीर पराक्रमी राजे-महाराजे महाराज विराट् की ओर से आमंत्रित होकर उनकी राजधानी में पधारे। बड़े उत्साह और आनन्द से विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ। इस वैवाहिक सम्बन्ध से सभी प्रसन्न हुए, किन्तु दुर्योधन की छाती पर साँप लोट गया।

विवाह के दूसरे दिन प्रातःकाल भगवान् श्रीकृष्ण श्रीबलरामजी तथा आमंत्रित नृपतिगण विराट् की सभा में एकत्र हुए। उपस्थित नरेशों की इच्छा देख भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रसंगानुसार कहा, "शूरवीर नरेशगण !

आप सभी पाण्डवों से परिचित हैं। धर्मराज युधिष्ठिर का चरित्र सूर्य के समान स्वयं प्रकाशवान् है। आप लोग यह जानते हैं कि सत्य की रक्षा के लिये उन्होंने कितने ही महान् कष्ट सहे और कितना त्याग किया। दूसरी ओर दुर्योधन का आचरण भी आप सब से छिपा नहीं है। उसने अन्याय तथा अधर्मपूर्वक पाण्डवों का राज्य छीन लिया और षड़यंत्र द्वारा इनका वध करने की कुचेष्टा करता रहा है और अब न्याय और धर्म के अनुसार वह पाण्डवों को उनका राज्य वापस देने को प्रस्तुत नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारा यह कर्त्तव्य है कि न्याय और धर्म की रक्षा के लिये हम पाण्डवों की सहायता करें तथा ऐसी व्यवस्था करें जिससे दोनों ही पक्षों का कल्याण हो। न्याय और धर्म की रक्षा के लिये यदि युद्ध भी करना पड़े तो पाण्डव उसके लिये भी प्रस्तुत हैं। आप लोग उन्हें दुर्बल न समझें। किन्तु युद्ध का निश्चय घोषित करने से पूर्व दुर्योधन के पास पुनः सन्धि-प्रस्ताव भेजा जाय।"

उपस्थित सभी नरेशों ने भगवान् श्रीकृष्ण की बातों का समर्थन किया। तदनुसार विराटराज के वृद्ध पुरोहित सन्धिदूत बनाकर दुर्योधन के पास भेजे गये। साथ ही पाण्डवों ने अन्य नरेशों के पास भी अपने दूत भेजकर न्याय और धर्म के पक्ष में उन्हें सहयोग देने की प्रार्थना की।

उधर दुर्योधन के गुप्तचरों ने पाण्डवों की गतिविधि का समाचार अपने स्वामी को दिया। उसने तुरन्त अपने दूतों को युद्ध का निमंत्रण लेकर विभिन्न राजाओं के पास भेजा।

महाभारत-काल में यह प्रथा थी कि यदि कोई राजा किसी अन्य राजा से युद्ध में उसकी सहायता करने की प्रार्थना करे तो वह उसे स्वीकार कर लेता था, फिर चाहे वह उस राजा के पक्ष का समर्थक हो अथवा न हो। यदि एक से अधिक राजाओं का युद्ध-निमंत्रण किसी को प्राप्त होता था, तो जिसका निमंत्रण सर्वप्रथम प्राप्त होता उसे ही वह स्वीकार कर लिया करता।

यादवकुलपति भगवान् श्रीकृष्ण के पास दस करोड़ यादवों की विशाल चतुरंगिणी सेना थी। दुर्योधन यादवों की विशाल तथा पराक्रमी सेना के सम्बन्ध में भलीभांति जानता था। उसके मन में यह शंका भी थी कि यादवसेना पाण्डवों की ओर से लड़ेगी। पर वह यह नहीं चाहता था और उसकी इच्छा थी कि यादवसेना उसके स्वयं की ओर से पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करे। ऐसा विचार कर, वह स्वयं शीघ्रता पूर्वक द्वारिका की ओर चला जिससे वह पाण्डवों के पहिले ही श्रीकृष्ण के पास पहुँच जाय और उनसे उनकी विशाल सेना माँग ले।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के सेवक और सखा थे,

अतः वे भी भगवान् की सेवा में उपस्थित होने के लिये द्वारिकापुरी की ओर चले, किन्तु भगवान् से उनकी सेना मांगने नहीं अपितु उनका मार्ग-दर्शन प्राप्त करने तथा उनके चरणों में आश्रय ग्रहण करने ।

वैभवशालिनी द्वारिका नगरी में दुर्योधन और अर्जुन साथ साथ पहुँचे। जिस समय दोनो वीर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रासाद में पहुँचे, उस समय भगवान् शयन कर रहे थे । दोनों ही शयनकक्ष की ओर गये । दुर्योधन ने पहले शयनकक्ष में प्रवेश किया । उसने देखा, श्रीकृष्ण प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हैं। उनके सिर की ओर पलंग के पास एक सुन्दर सिंहासन रखा था । वह उसी सिंहासन पर बैठ गया । उसके पीछे अर्जुन ने भी शयनकक्ष में प्रवेश किया और हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक भगवान् के श्री चरणों की ओर खड़ा हो उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगा ।

थोड़ी देर में भगवान् की नींद टूटी । आंखें खुलते ही उनकी दृष्टि प्रणाम करते हुए अर्जुन पर पड़ी । उन्होंने कुतूहलवश अर्जुन से उसके द्वारिका आने का कारण पूछा । अर्जुन कुछ उत्तर दे इसके पूर्व ही दुर्योधन ने हँसते हुए श्रीकृष्ण का अभिनन्दन किया और कहा, "भगवन् ! जब हम दोनों यहां आये तब आप सो रहे थे । किन्तु शयनकक्ष में मैंने पहले प्रवेश किया है, अतः आप मेरी प्रार्थना सुनें और उसे कृपा-पूर्वक स्वीकार करें ।"

अर्जुन बिना कुछ कहे शान्तभाव से खड़े रहे।

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से कहा, "कुरुराज ! यह सत्य है कि तुमने अर्जुन से पहिले मेरे शयनकक्ष में प्रवेश किया है, किन्तु नींद खुलने पर मैंने अर्जुन को ही पहले देखा है। अतः मैं तुम दोनों की बातें सुनूंगा और दोनों की इच्छा पूर्ण करना चाहूंगा। कहो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?"

दुर्योधन ने कहा, "भगवन् ! पाण्डवों से हमारा युद्ध होना अनिवार्य है, अतः इस युद्ध में आप मेरा साथ दीजिये।"

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन और अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा, "मेरे पास दस करोड़ यादवों की सुशिक्षित तथा बलवान् सेना है। एक ओर तो वह सेना रहेगी और दूसरी ओर अकेले मैं रहूँगा। किन्तु मैं न तो युद्ध करूँगा और न ही कोई शस्त्र ग्रहण करूँगा। तुम लोगों को किसी एक पक्ष का चुनाव करना होगा, मुझे या मेरी सेना को। जिस पक्ष की ओर मैं रहूँगा, उधर मेरी सेना नहीं रहेगी और जिस ओर यादव सेना रहेगी उस ओर मैं नहीं रहूँगा।"

इतना कह भगवान् ने दुर्योधन से पुनः कहा, "गान्धारीनन्दन ! यद्यपि तुम पहले मेरे पास आये हो किन्तु मैंने अर्जुन को ही पहिले देखा है तथा वह उम्र में भी तुमसे छोटा है, अतः पहला अधिकार उसी का है। वह जो चाहे सो माँग ले--मुझे या मेरी

चतुरंगिणी सेना को !"

भगवान् का निर्णय सुनते ही दुर्योधन के मन में भय, आशंका, ईर्ष्या और द्वेष आदि का बवंडर उठ खड़ा हुआ। उसे लगा कि श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ पक्षपात कर रहे हैं और उसे छलना चाहते हैं। वह सोचने लगा, अर्जुन अवश्य ही यादवों की विशाल सेना माँग लेगा, फिर मैं निहत्थे कृष्ण को लेकर क्या करूँगा ? दुर्योधन व्यग्रतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगा कि अर्जुन क्या माँगता है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन ने उनके चरणों में प्रणाम निवेदित कर कहा, "प्रभो ! युद्ध में मुझे आपका आश्रय चाहिये। यादव सैन्यवाहिनी की मुझे आवश्यकता नहीं है।"

भगवान् ने अर्जुन को स्नेहपूर्वक आशीर्वाद देते हुए 'तथास्तु' कहा।

दुर्योधन के सिर पर से मानो भारी बोझ उतर गया। उसने चैन की साँस ली। श्रीकृष्ण ने यादवी सेना दुर्योधन के आधीन कर दी। वह अर्जुन की मूर्खता पर मन ही मन हँसता हुआ विशाल यादवसेना के साथ हस्तिनापुर की ओर चल पड़ा। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ हो लिये। अर्जुन की जीवन-साध पूर्ण हुई। उसने अपने जीवन-रथ के संचालन का भार ही भगवान् के हाथों सौंप दिया। भगवान् स्वयं जिसके रथ के सारथि हों, वह भला कैसे कुमार्ग

पर जा सकता है ? वह रथ तो अवश्य ही लक्ष्य पर पहुँचकर रथी को सफल तथा यशस्वी बनायेगा ।

यह संसार एक कुरुक्षेत्र है, और मानव-जीवन सतत चलनेवाला एक युद्ध । सत् और असत्, न्याय और अन्याय, भलाई और बुराई का युद्ध अनादि काल से चलता चला आ रहा है । यह ऐसा युद्ध है जिसमें मनुष्य को इच्छा या अनिच्छापूर्वक अवश्य ही जूझना पड़ता है । किन्तु इस युद्ध में उसे एक स्वतंत्रता अवश्य है---और वह है पक्ष चयन करने की । वह चाहे तो न्याय और भलाई का पक्ष ले और इनके लिये युद्ध करे । पक्ष-चयन का निर्णय सर्वथा मनुष्य के आधीन है ।

संसार के सभी युद्धों के निर्णायक परिणाम यह सिद्ध करते हैं कि विजय सदैव सत्य की ही होती है । किन्तु इस विजय के लिये सत्य के पक्षधरों में कठिन परिश्रम तथा असीम धैर्य की आवश्यकता होती है । सत्य का पक्ष लेनेवाले संख्या की दृष्टि से सदैव कम ही हुआ करते हैं । किन्तु भगवान् सदा सत्य के पक्षधरों की ओर ही रहते हैं । अतएव अन्तिम विजय उन्हीं की होती है ।

दूसरी ओर, असत्-अन्याय आदि का पक्ष लेकर युद्ध करनेवाले लोग संसार में प्रायः शक्तिशाली, यशस्वी तथा विजयी से प्रतीत होते हैं । उनके जीवन में तात्कालिक सफलता भी दीख पड़ती है । उनके

अनुयायियों की संख्या भी सत्य के पक्षधरों की तुलना में अधिक होती है। किन्तु अन्तिम विजय उनकी कभी नहीं होती, उल्टे उनका विनाश ही होता है। हिरण्यकशिपु और रावण से लेकर हिटलर और मुसोलिनी तक इसी के प्रमाण हैं।

सत्य का पथ प्रारम्भ में कठिन और दुःख पूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में वह सुख देनेवाला होता है। असत्य का पथ प्रारम्भ में सुगम और सुखकर प्रतीत होता है, किन्तु उसका परिणाम विनाशकारी होता है।

•

ऐ भारत ! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती है; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रियसुख के लिए—अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही "माता" के लिए बलिस्वरूप रखे गये हो।...तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्री, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न—भावुकता और भावोन्माद में क्या अन्तर है ?

—डा. एन्. बी. देसाई, बम्बई

उत्तर—भावुकता को उठाया जा सकता है और वह अच्छी एवं बुरी दोनों प्रकार की हो सकती है। पर भावोन्माद को नहीं उठाया जा सकता। वह भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है। दोनों के बाहरी लक्षण सरसरी तौर पर भले समान दिखें, पर थोड़ी सूक्ष्मता से देखने पर पता चल जायगा कि भावुकता में चाँचल्य अधिक होता है और इसीलिए उसमें अवसन्नता भी शीघ्र लक्षित होती है, जबकि भावोन्माद में धीरता और गम्भीरता होती है। भावुकता में आक्रोश अधिक होता है और भावोन्माद में स्निग्धता होती हैं। भावुकता को जगा देने पर उसके उपशम होने के बाद मन में एक बुरी प्रतिक्रिया हो सकती है। देखा गया है कि जो अंगभंगी या बलपूर्वक भावुकता को उठा दिया करते हैं, उनका मन थोड़ी देर बाद निम्नगामी हो जाता हैं। भावुकता एक लहर के समान है। वह उपर उठेगी, तो नीचे भी गिरेगी। इसीलिए भावुक व्यक्ति चंचल, असहिष्णु और अस्थिर देखा गया है। भावोन्माद इससे सर्वथा भिन्न है। वह साधना की परिपक्वावस्था में भगवत्प्रेम से उपजता है। उसमें मन की गिरावट नहीं हुआ करती। इसीलिए महात्माजन उपदेश देते हैं कि ध्यान में मन को

शान्त और स्थिर रखना चाहिए। उस समय भावुकता को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। भावुकता मन को दुर्बल बना देती है, जबकि भावोन्माद मन को दृढ बनाता है।

प्रश्न—स्वामी विवेकानन्द ने कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय को साधनात्मक जीवन में आदर्श माना है। पर यह कैसे सम्भव है ? क्या ये तीनों रास्ते सर्वथा अलग अलग नहीं हैं ?

—कु. इन्दु, झाँसी

उत्तर—नहीं, तीनों को सर्वथा अलग नहीं माना जा सकता। जब हम कर्मयोग या भक्तियोग की बात करते हैं तो तात्पर्य यह है कि उस रास्ते पर अधिक जोर देते हैं जिस पर हमारी रुचि है।

मान लीजिए, आप भक्तियोग के अनुगामी हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि आप कर्म न करें। आप कर्म अवश्य करें, पर कर्मों को भगवान् की उपासना बना लेना सीख लें। भक्ति के पथ पर चलने का तात्पर्य यह नहीं कि आप विचार और विवेक को जीवन में स्थान ही न दें। अगर ऐसा करते हैं तो आपकी भक्ति मात्र भावुकता बन सकती है। अतएव भक्ति में सन्तुलन को बनाये रखने के लिए विचार आवश्यक है। फिर, यदि आप ज्ञान का सहारा न लें, तो ईश्वर का स्वरूप भी कैसे समझ में आयेगा ? अगर वह समझ में न आया, तो ईश्वर के प्रति प्रीति भी कैसे पनप पायेगी ? अतएव ईश्वर के प्रति भक्ति को पुष्ट करने के लिए कर्म और ज्ञान दोनों की आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रत्येक मार्ग को समझ लें। अतएव एक की विशिष्टता में अन्य सबका समन्वय ही वांछित लक्ष्य होना चाहिए।

●

रामकृष्ण मिशन समाचार

गेट वे ऑफ इण्डिया, बम्बई में स्वामी विवेकानन्द की मूर्ति की स्थापना।

विगत ३१ मई को भारत-द्वार (गेट वे ऑफ इण्डिया), बम्बई में स्वामी विवेकानन्दजी की १२ फुट उँची कांस्य प्रतिमा स्थापित की गयी। इस कार्य का आयोजन रामकृष्ण मिशन, बम्बई के द्वारा किया गया था। प्रतिमा का अनावरण समारोह रामकृष्ण मठ और मिशन के अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज के आशीर्वचनों से प्रारम्भ हुआ तथा महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री श्री व्ही. पी. नाइक ने प्रतिमा का अनावरण-कार्य सम्पन्न किया। इसी अवसर पर स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने एक स्मारिका का भी उद्‌घाटन किया।

स्मरणीय है कि ३१ मई १८९३ को स्वामी विवेकानन्द गेट वे ऑफ इण्डिया, बम्बई से अमेरिका के लिए रवाना हुए थे। उसी की स्मृति में उनकी यह प्रतिमा स्थापित की गयी है।

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने अपना आशीर्वचन प्रदान करते हुए कहा कि स्वामी विवेकानन्द की यह भव्य प्रतिमा लोगों को अपने धर्म और संस्कृति के प्रति जागरूक करेगी। विवेकानन्दजी ऐसे समय अमेरिका गये जब भारत दासता की जंजीरों से जकड़ा था। अतएव भारत के प्रति अन्य दूसरे देशों की कोई सहानुभूति नहीं थी, और अमेरिका आदि देशों में तो भारत के विरुद्ध बड़ा विष-वमन किया गया था। स्वामी विवेकानन्द ऐसे ही संकटकाल में अमेरिका पहुँचे थे और वहाँ उन्होंने शिकागो में आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लेकर भारत की सुप्त चेतना को जागृत कर दिया। अतएव स्वामी विवेकानन्द का विदेश जाना मानो भारत को जगाना था।

स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने उन समस्त लोगों को अपनी हार्दिक बधाइयाँ दीं जिनके परिश्रम के फलस्वरूप उक्त प्रतिमा स्थापित हो सकी।

महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री श्री व्ही. पी नाइक ने प्रतिमा का अनावरण-कार्य सम्पन्न कर अपने उदघाटन भाषण में कहा कि हमें गर्व है स्वामी विवेकानन्दजी यहाँ से ही अपनी विश्व-विजय

यात्रा पर निकले थे। भारत प्राचीन काल से ही धर्म के क्षेत्र में अग्रणी रहा है और धर्म के बल पर विश्व के मानवों को एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा करता रहा है। १९ वीं शताब्दी में भारत की स्थिति इतनी दयनीय थी कि उसे जगाने के लिए स्वामी विवेकानन्दजी जैसे महापुरुष की आवश्यकता पड़ी।

श्री नाइक ने आगे कहा कि आज का युग विज्ञान का है जब हमें सभी बातों को विज्ञान की दृष्टि से देखने को कहा जाता है। स्वामी विवेकानन्दजी ऐसे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने धर्म को भी विज्ञान की दृष्टि से देखना सिखलाया। उनमें प्राचीन तत्वज्ञान और अर्वाचीन वैज्ञानिक ज्ञान का ऐसा अपूर्व मेल था, जिसने लोगों को एक नये ही ढंग से धर्म की ओर देखने के लिए प्रेरित किया। स्वामीजी की दष्टि में धर्म जब तक सेवा बनकर समाज के क्षेत्र में नहीं उतरता, तब तक उसकी शक्ति लुप्त ही रहती है।

श्री नाइक ने स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा प्रतिपादित सेवा-धर्म की भूरि भूरि प्रशंसा की और अन्त में कहा कि स्वामीजी की यह प्रतिमा सभी को त्याग, सेवा और बलिदान की प्रेरणा देती रहेगी।

आरंभ में रामकृष्ण मिशन, बम्बई के सचिव स्वामी हिरण्मयानन्दजी ने पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी, मुख्य मंत्री श्री नाइक एवं अन्य सबका स्वागत किया तथा बम्बई विश्व-विद्यालय के कुलपति श्री गजेन्द्रगढ़कर ने मिशन के अध्यक्ष की हैसियत से उक्त प्रतिमा-स्थापन का इतिहास और संक्षिप्त प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। अन्त में रामकृष्ण मठ और मिशन के महासचिव श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज द्वारा आभार-प्रदर्शन के पश्चात् कार्यक्रम समाप्त हुआ।

तेज वर्षा के बावजूद लोग भारी संख्या में इस कार्यक्रम में उपस्थित थे। इस समारोह में भाग लेने के लिए रामकृष्ण मठ और मिशन के विभिन्न केन्द्रों से लगभग ९० संन्यासी और ब्रह्मचारीगण पधारे थे।

●

अपील

रामकृष्ण मिशन द्वारा बाँगला देश के शरणार्थियों हेतु राहत-कार्य प्रारंभ।

जनसाधारण को विदित ही है कि बाँगला देश के बहुत से लोग बेघरबार और असहाय होकर भारत में कई स्थानों से प्रवेश कर रहे हैं। इन पीड़ित शरणार्थियों की सहायता के लिए रामकृष्ण मिशन ने सिलहट सीमा पर डावकी में तथा पूर्व दिनाजपुर सीमा पर राधिकापुर में सेवा-केन्द्र खोलकर राहत-कार्य प्रारम्भ कर दिया है। जलपाइगुड़ी तथा अन्य स्थानों पर भी शीघ्र ही सेवा-केन्द्र खोले जा रहे हैं।

लोगों से साग्रह अनुरोध किया जाता है कि वे इन पीड़ितों की सेवा के लिए मिशन को उदारतापूर्वक अपना दान निम्नलिखित पते पर भेजें :—

"जनरल सेक्रेटरी, रामकृष्ण मिशन, पो. बेलुड़ मठ,
जि.—हवड़ा (प. बं.)"